संकेत

उ० = उद्देश

सू० = सूत्र

पृ० = पृष्ठ

भा० = भाष्य

नि० गा० = निशीथ भाष्य गाथा

नि० चू० = निशीथ-चूर्णि

व्यव० = व्यवहार सूत्र

आचा० नि० गा० = आचारांग निर्युक्ति गाथा

आचा० चू० = आचारांग चूर्णि

आचा० नि० टी० = आचारांग निर्युक्ति टीका

दशवै० = दशवैकालिक सूत्र

हि० के० = हिस्ट्री ओफ दी केनोनिकल लिटरेचर ओफ दी जैनाज

लेखक : प्रो० हीरालाल कापडिया

निशीथ : एक अध्ययन

प्रस्तुत ग्रन्थ :

आचारांग सूत्र की अन्तिम चूला 'आयारपकप्प' नाम की थी। जैसाकि उसके 'चूला' नाम से प्रसिद्ध है, वह कभी आचारांग में परिशिष्ट रूप से जोड़ी गई थी। प्रतिपाद्य विषय की गोप्यता के कारण वह चूला 'निशीथ' नाम से प्रसिद्ध हुई, और आगे चलकर आचारांग से पृथक् एक स्वतंत्र शास्त्र बनकर 'निशीथ सूत्र' के नाम से प्रचलित होगई। प्रस्तुत ग्रन्थराज, उसी निशीथ सूत्र का संपादन तथा प्रकाशन है। प्रस्तुत प्रकाशन की विशेषता यह है कि इसमें मूल निशीथ सूत्र के अतिरिक्त उसकी प्राकृत पद्यमय 'भाष्य' नामक टीका है, जो अपने में 'निर्युक्ति' को भी संमिलित किए हुए है। साथ ही भाष्य की व्याख्यास्वरूप प्राकृत गद्यमय 'विशेष चूर्णि' नामक टीका और चूर्णि के २०वें उद्देश की संस्कृत व्याख्या भी है। इस प्रकार निशीथ सूत्र का प्रस्तुत सम्पादन मूलसूत्र, निर्युक्ति, भाष्य, विशेष चूर्णि और चूर्णि-व्याख्या का एक साथ संपादन है।

इसके संपादक उपाध्याय कवि श्री अमरमुनि तथा मुनि श्री कन्हैयालालजी 'कमल'—मुनिद्वय है। इसके तीन भाग प्रथम प्रकाशित हो चुके हैं। यह चौथा भाग है। इस प्रकार यह महान् ग्रन्थ विद्वानों के समक्ष प्रथम वार ही साङ्गोपाङ्ग रूप में उपस्थित हो रहा है। इसके लिये उक्त मुनिद्वय का विद्वद्वर्ग चिरऋणी रहेगा। गोपनीयता के कारण हम लोगों के लिये इसकी उपलब्धि दुर्लभ ही थी। चिरकाल से प्रतीक्षा की जाती रही, फिर भी दर्शन दुर्लभ ! मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं है कि प्रस्तुत ग्रन्थराज को इस भांति विद्वानों के लिए सुलभ बनाकर उक्त मुनिद्वय ने तथा प्रकाशक संस्था—सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा ने वस्तुतः अपूर्व श्रेय अर्जित किया है।

प्रस्तुत में इतना कहना आवश्यक है कि छेद ग्रन्थों के भाष्यों और चूर्णियों का संपादन अपने में एक अत्यन्त कठिन कार्य है। यह ठीक है कि सद्भाग्य से संपादन की सामग्री विपुल मात्रा में उपलब्ध है, किन्तु यह सामग्री प्राचुर्य जहां एक ओर संपादक के कार्य को निश्चितता की सीमा तक पहुँचाने में सहायक हो सकता है, वहाँ दूसरी ओर संपादक के धैर्य और कुशलता को भी परीक्षा की कसौटी पर चढ़ा देता है। प्रसिद्ध छेद सूत्र—दशा[1], कल्प,[2] व्यवहार[3] और निशीथ तथा पंचकल्प का परस्पर इतना निकट सम्बन्ध है कि कुशल संपादक

१. विजयकुमुद सूरि द्वारा संपादित होकर प्रकाशित है।

२. 'बृहत्कल्प' के नाम से मुनिराज श्री पुण्य विजय जी ने छः भागों में संपादित करके प्रकाशित कर दिया है।

३. श्री माणेक मुनि ने प्रकाशित कर दिया है। किन्तु वह अत्यन्त अशुद्ध है, अतः पुनः संपादन आवश्यक है।

तो एक का संशोधन और संपादन करते हुए दूसरे का संशोधन और संपादन भी सहज भाव से कर ले, तो कोई आश्चर्य नहीं। किन्तु इसके लिये अपार धैर्य की अपेक्षा रहती है, जो गति की शीघ्रता को साधने वाले इस युग में सुलभ नही है। ऐसी स्थिति में हमें इतने से भी संतोष करना चाहिए कि एक सुवाच्य रूप में संपादन हमारे समक्ष आया तो सही। जहाँ तक प्रस्तुत निशीथ का सम्बन्ध है, कहा जा सकता है कि इसमें और भी संशोधन अपेक्षित है। फिर भी विद्वान् लोग जिसकी वर्षो से राह देखते रहे हैं[1], उसे सुलभ बनाकर, उक्त मुनि राजों ने जो श्रेय अर्जित किया है, वह किसी प्रकार भी कम प्रशंसनीय नहीं है।

निशीथसूत्र को छेद-सूत्र माना जाता है। आगमों के प्राचीन वर्गीकरण में छेद ग्रन्थों का पृथक् वर्ग नहीं था; किन्तु जैसे-जैसे श्रमण संघ के आचार की समस्या जटिल होती गई और प्रतिदिन साधकों के समक्ष अपने संयम का पालन और उसकी सुरक्षा के साथ-साथ जैन धर्म के प्रचार और प्रभाव का प्रश्न भी आने लगा, तैसे-तैसे आचरण के नियमों में अपवाद मार्ग बढ़ने लगे और संयम-शुद्धि के सदुपायस्वरूप प्रायश्चित्त-विधान में भी जटिलता आने लगी। परिणामस्वरूप आचारशास्त्र का नवनिर्माण होना आवश्यक हो गया। आचारशास्त्र की जटिलता के साथ-ही-साथ उसकी रहस्यमयता भी क्रमशः बढ़ने लगी। फलतः आगमों का एक स्वतन्त्र वर्ग, छेद ग्रन्थों के रूप में वृद्धिगत होने लगा। यह वर्ग अपनी टीकानुटीकाओं के विस्तार के कारण अंग ग्रन्थों के विस्तार को भी पार कर गया। इतना ही नहीं, उक्त वर्ग ने अंगों के महत्त्व को भी अमुक अंश में कम कर दिया। जो अपवाद, अंगों के अध्ययन के लिये भी आवश्यक नहीं थे, वे सब छेद ग्रन्थों के अध्ययन के लिये आवश्यक ही नहीं, अत्यावश्यक करार दिए गए; यही छेद-वर्ग के महत्त्व को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। अन्ततोगत्वा आगमों का जो अन्तिम वर्गीकरण हुआ, उसमें, छेद ग्रन्थों के वर्ग को भी एक स्वतंत्र स्थान देना पड़ा। इस प्रकार छेद ग्रन्थों को जैन आगमों में एक महत्त्व का स्थान प्राप्त है—यह हम सबको सहज ही स्वीकार करना पड़ता है। और यह भी प्रायः सर्वसम्मत है कि उन छेद ग्रन्थों में भी निशीथ का स्थान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। प्रस्तुत महत्ता के मौलिक कारणों में निशीथ सूत्र की निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, विशेष चूर्णि आदि टीकाओं का भी कुछ कम योगदान नहीं है। अपितु, यों कहना चाहिए कि भाष्य और चूर्णि आदि के कारण प्रस्तुत ग्रन्थ का महत्त्व अत्यधिक बढ़ गया है। अतएव निशीथ के प्रस्तुत प्रकाशन से एक महत्व पूर्ण कार्य की संपूर्ति **उपाध्याय श्री अमर मुनि और मुनिराज श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'** ने की है, इसमें सन्देह नहीं है।

इतः पूर्व निशीथ का प्रकाशन साइक्लोस्टाईल रूप में आचार्य विजयप्रेमसूरि और पं० श्री जंबूविजय जी गणि द्वारा हुआ था। उस संस्करण में निशीथ सूत्र, निर्युक्ति-मिश्रित भाष्य और विशेष चूर्णि संमिलित थे। किन्तु परम्परा-पालन का पूर्वाग्रह होने के कारण, वह संस्करण, बिक्री के लिये प्रस्तुत नहीं किया गया, केवल विशेषसंयमी आत्मार्थी आचार्यों को ही वह उपलब्ध था। निशीथ सूत्र का महत्त्व यदि एक मात्र संयमी के लिये

---

१. जब से डा० जगदीशचन्द्र जैन ने अपने निबन्ध में निशीथचूर्णि की सामग्री का उपयोग करके विद्वद् जगत् में इसकी बहुमूल्यता प्रकट की है, तब से तो चूर्णि की माँग बराबर बनी रही है।

ही होता, तब तो संपादक मुनिराजों का उक्त एकांगी मार्ग उचित भी माना जा सकता था, किन्तु निशीथ की टीकाओं में भारतीय इतिहास के सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, दार्शनिक आदि विविध अंगों को स्पर्श करने वाली प्रचुर सामग्री होने के कारण, तत्-तत् क्षेत्रों में संशोधन करने वाले जिज्ञासुओं के लिये भी निशीथ एक महत्त्वपूर्ण उपयोगी ग्रन्थराज है, अतः उसकी ऐकान्तिक गोप्यता विद्वानों को कथमपि उचित प्रतीत नहीं होती। ऐसी स्थिति में भारतीय इतिहास के विविध क्षेत्रों में संशोधन कार्य करने वाले विद्वानों को सभाष्य एवं सचूर्णि निशीथ सूत्र उपलब्ध करा कर, उक्त मुनिराजद्वय ने विद्वानों को उपकृत किया है, इसमें संदेह नहीं। जिस सामग्री का उपयोग करके प्रस्तुत संस्करण का प्रकाशन हुआ है, वह सामग्री पर्याप्त है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। फिर भी संपादकों ने अपनी मर्यादा में जो कुछ किया है और विद्वानों के समक्ष सुवाच्य रूप में निशीथसूत्र, नियुक्तिमिश्रित भाष्य और विशेष चूर्णि प्रकाशित कर जो उपकार किया है, वह चिर स्मरणीय रहेगा, यह कहने में जरा भी अतिशयोक्ति नहीं है। संपादकों का इस दिशा में यह प्रथम ही प्रयास है, फिर भी इसमें उन्हें जो सफलता मिली है, वह कार्य की महत्ता और गुरुता को देखते हुए– साथ ही समय की अल्पावधि को लक्ष्य में रखते हुए अभूतपूर्व है। अत्यन्त अल्प समय में ही इतने विराट ग्रन्थ का संपादन और प्रकाशन हुआ है। समय और अर्थव्यय दोनों ही दृष्टियों से देखा जाए, तो वह नगण्य ही है। किन्तु जो कार्य मुनिराजों की निष्ठा ने किया है, वह भविष्य में होने वाले अन्य महत्त्वपूर्ण कार्यों के प्रति उनके अन्तर्मन को उत्साह-शील बनाएगा ही, तदुपरान्त विद्वान लोग भी अब उनसे इससे भी अधिक प्रभावोत्पादक ग्रन्थों के प्रकाशन-संपादन की अपेक्षा रखेंगे– यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं। हम आशा करते हैं कि उपाध्याय श्री अमर मुनि तथा मुनिराज श्री कन्हैयालाल जी, प्रस्तुत क्षेत्र में जब प्रथम बार में ही इस उल्लेखनीय सफलता के-साथ आगे आये हैं, तब वे दोनों अपने प्रस्तुत सुभग सहकार को भविष्य में भी बनाये रखेंगे और विद्वानों को अनेकानेक ग्रन्थों के मधुर फलों का रसास्वादन कराकर अपने को चिर यशस्वी बनाएंगे! कहीं यह न हो कि प्रथम प्रयास के इस अभूत पूर्व परिश्रम के कारण आने वाली थकावट से प्रस्तुत क्षेत्र ही छोड़ बैठें, फलस्वरूप हमें उनसे प्राप्त होने वाले सुपक्व साहित्यिक मिष्ट फलों के रसास्वाद से वंचित होना पड़े। हमारी और अन्य विद्वानों की उनसे यह विनम्र प्रार्थना है कि वे इस क्षेत्र में अधिकाधिक प्रगति करें और यथावसर अपनी अमूल्य सेवाएं देते रहें।

निशीथ का महत्त्व :

छेद सूत्र दो प्रकार के हैं—एक तो अंगान्तर्गत और दूसरे अंग-बाह्य। निशीथ को अंगान्तर्गत माना गया है, और शेष छेद सूत्रों को अंग बाह्य; -यह निशीथ सूत्र की महत्ता को सप्रमाण सूचित करता है। छेदसूत्र का स्वतंत्र वर्ग बना और निशीथ की गणना उसमें की जाने लगी, तब भी वह स्वयं अंगान्तर्गत ही माना जाता रहा —इस बात की सूचना प्रस्तुत निशीथ सूत्र की चूर्णि के प्रारंभिक भाग के अध्येताओं से छिपी नहीं रहेगी। तथापि यदि स्पष्ट रूप से देखना हो, तो इसके लिए निशीथ भाष्य की गा० ६१६० और उसकी सोत्थान चूर्णि को पढ़ना चाहिए। वहाँ शिष्य स्पष्ट रूप से प्रश्न करता है कि कालिक श्रुत आचारांगादि हैं और प्रकल्प=निशीथ उसी का एक अंश है; अतएव वह तो आर्य रक्षित के द्वारा अनुयोगों का पार्थक्य किए

जाने पर, चरणानुयोग के अन्तर्गत हो गया। किन्तु जो अन्य छेद अध्ययन अंग बाह्य हैं, उनका समावेश कहाँ होगा ? उत्तर में कहा गया है कि वे छेद सूत्र भी चरणानुयोग में ही सम्मिलित समझने चाहिएँ। इससे स्पष्ट है कि समग्र छेदों में से केवल निशीथ ही अंगान्तर्गत है।

भाष्यकार के मत से छेदसूत्र उत्तम श्रुत[१] है। निशीथ भी छेद के अन्तर्गत है, अतः उक्त उल्लेख पर से उसकी भी उत्तमता सूचित होती है। कहा गया है कि प्रथम चरणानुयोग का अर्थात् आचारांग के नव अध्ययन का ज्ञान किये बिना ही जो उत्तमश्रुत का अध्ययन करता है, वह दंडभागी बनता है[२]। छेद सूत्रों को उत्तम श्रुत क्यों कहा गया ? इसका उत्तर दिया गया है कि छेदों में प्रायश्चित्त-विधि बताई गई है, और उससे आचरण की विशुद्धि होती है। अतएव यह उत्तम श्रुत है[३]। उपाध्यायादि पदों की योग्यता के लिये भी निशीथ का ज्ञान आवश्यक माना गया है[४]। निशीथ के ज्ञाता को ही अपनी टोली लेकर पृथक् विहार करने की आज्ञा शास्त्र में दी गई है। इसके विपरीत यदि किसी को निशीथ का सम्यक् ज्ञान नहीं है, तो वह अपने गुरु से पृथक् होकर, स्वतंत्र विहार नहीं कर सकता[५]। आचारप्रकल्प=निशीथ का उच्छेद करने वालों के लिये विशेष रूप से दण्ड देने की व्यवस्था की गई है[६]। इतना ही नहीं, किन्तु निशीथ-धर के लिये विशेष अपवाद मार्ग की भी छूट दी गई है[७]। इन सब बातों से—लोकोत्तर दृष्टि से—भी निशीथ की महत्ता सिद्ध होती है।

छेद सूत्र को प्रवचन रहस्य[८] कहा गया है। उसे हर कोई नहीं पढ़ सकता, किन्तु विशेष योग्यतायुक्त व्यक्ति ही उसका अधिकारी होता है। अनधिकारी को[९] इसकी वाचना देने से, वाचक, प्रायश्चित्त का भागी होता है[१०]। इतना ही नहीं, किन्तु योग्य पात्र को न देने से भी प्रायश्चित्त का भागी होता है[११]। क्योंकि ऐसा करने पर सूत्र-विच्छेद आदि दोष होते हैं।[१२]

आचार प्रकल्प=निशीथ के अध्ययन के लिये कम-से-कम तीन वर्ष का दीक्षापर्याय विहित है। इससे पहले दीक्षित साधु भी इसे नहीं पढ़ सकता है[१३]। यह प्रस्तुत शास्त्र के गांभीर्य की

१. नि० गा० ६१८४
२. नि० सू० उ० १९ सू० १८, भाष्य गा० ६१८४
३. नि० गा० ६१८४ की चूर्णि
४. व्यवहार सूत्र उद्देश ३, सू० ३–५, १०
५. व्यवहार भाग–४, गा० २३०, ५६६
६. वही, उद्देश ५, सू० १५—१८।
७. वही, उद्देश ६, पृ० ५७—६०।
८. नि० चू० गा० ६२२७, व्यवहार भाष्य तृतीय विभाग, पृ० ५८।
९. अनधिकारी के लिये, देखो—नि० चू० भा० गा० ६१९८ से।
१०. नि० सू० उ० १९ सू० २१।
११. वही, सू० २२
१२. नि० गा० ६२३३।
१३. नि० चू० गा० ६२६५, व्यवहार भाष्य—उद्देश ७, गा० २०२—३

ग्रौर महत्त्वपूर्ण संकेत है। साथ ही यह भी कहा गया है कि केवल दीक्षापर्याय ही अपेक्षित नहीं है, परिणत बुद्धि[1] का होना भी आवश्यक है।

दोषों की आलोचना, किसी अधिकारी गुरु के समक्ष, करनी चाहिए। प्राचीन परंपरा के अनुसार कम-से-कम कल्प और प्रकल्प—निशीथ का ज्ञान जिसे हो, उसी के समक्ष आलोचना की जा सकती है[2]। जब तक कोई श्रुत साहित्य में निशीथ का ज्ञाता न हुआ हो, तब तक वह आलोचना सुनने का अधिकारी नहीं होता—यह प्राचीन परंपरा रही है। आगे चलकर कल्प शब्द से दशा, कल्प और व्यवहार—ये तीनों शास्त्र विवक्षित माने गये हैं। और गाथागत 'तु' शब्द से अन्य भी महाकल्प सूत्र, महा-निशीथ और नियुक्ति पीठिका भी विवक्षित हैं, ऐसा माना जाने लगा[3]। किन्तु मूल में कल्प और प्रकल्प-निशीथ ही विवक्षित रहे, यह निशीथ की महत्ता सिद्ध करता है। आलोचनार्ह ही नहीं, किन्तु उपाध्याय पद के योग्य भी वही व्यक्ति माना जाता था, जो कम-से-कम निशीथ को तो जानता ही हो[4]। श्रुत-ज्ञानियों में प्रायश्चित्त दान का अधिकारी भी वही है, जो कल्प और प्रकल्प-निशीथ का ज्ञाता हो। इससे भी शास्त्रों में निशीथ का क्या महत्त्व है, यह ज्ञात होता है[5]। इसका कारण यह है कि अनाचार के कारण जो प्रायश्चित्त आता है, उसका विधान निशीथ में विशेष रूप से मिलता है[6]। और उस प्रायश्चित्त विधि के पीछे बल यह है कि स्वयं निशीथ का आधार पूर्वगत श्रुत है, अतः उससे भी शुद्धि हो सकती है[7]। इसका फलितार्थ यह है कि केवली और चतुर्दश पूर्वधर को प्रायश्चित्त-दान का जैसा अधिकार है, प्रकल्प-निशीथ धर को भी वैसा ही अधिकार है[8]। निशीथ सूत्र के अधिकारी और अनधिकारी का विवेक करते हुए भाष्यकार ने अंत में कहा है कि जो रहस्य को संभाल न सकता हो, जो अपवाद पद का आश्रय लेकर अनाचार में प्रवृत्ति करने वाला हो, जो ज्ञानादि आचार में प्रवृत्त न हो, ऐसे व्यक्ति को निशीथ सूत्र का रहस्य बताने वाला संसार-भ्रमण का भागी होता है। किन्तु जो रहस्य को पचा सकता हो, यावज्जीवन पर्यन्त उसको धारण कर सकता हो, मायावी न हो, तुला के समान मध्यस्थ हो, समित हो, और जो कल्पों के अनुपालन में स्वयं संलग्न होकर दूसरों के लिये मार्ग दर्शक दीपक का काम करता हो, वह धर्ममार्ग का आचरण करके अपने संसार का उच्छेद कर लेता है। अर्थात् निशीथ के बताये मार्ग पर चलने का फल मोक्ष है[9]।

---

१. व्यव० उद्देश १०, सू० २०—२१; व्यवहार भा० गा० १०१—१०२। तथा नि० चू० पृ० ३
२. नि० गा० ६३९५ और व्यवहार भाष्य, विभाग-२, गा० १३७;
३. निशीथ चू० गा० ६३९८ और व्यवहार टीका विभाग २, गा० १३७;
४. व्यवहार सूत्र उद्देश ३, सूत्र ३
५. नि० गा० ६४६८
६. नि० गा० ६४२७, ६४९६
७. वही, गा० ६५०० व्यवहार भाष्य द्वि० विभाग, गा० २५४; तृ० विभाग, गा० १३३
८. वही, गा० ६६७४ तथा व्यवहार द्वितीय विभाग, भाष्य गा० २२१
९. नि० ६७०२—६७०३, व्यवहार उद्देश १०, सूत्र २०।

निशीथ सूत्र ही नहीं, किन्तु उसकी 'पीठिका' के लिये भी कहा गया है कि यदि कोई अवहुश्रुत, रहस्य को वता देने वाला, जिस किसी के समक्ष—यावत् श्रावकों के संमुख भी अपवाद की प्ररूपणा करने वाला, अपवाद का अवलंबन लेने वाला,असंविग्न और दुर्वलचरित्र व्यक्ति हो, तो उसे पढ़ने का अधिकार नहीं है। अतएव ऐसे अनधिकारी व्यक्ति को 'पीठिका' के अर्थ का ज्ञान नहीं कराना चाहिए। यदि कोई हठात् ऐसा करता है तो वह प्रवचन-घातक होता है और दुर्लभ-वोधि वनता है।[१]

लोकोत्तर दृष्टि से तो इस प्रकार निशीथ का महत्त्व स्वयं सिद्ध है ही, किन्तु लौकिक दृष्टि से भी निशीथ का महत्त्व कुछ कम नहीं है। ईसा की छठी सातवी शती में भारत वर्ष के सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक संघों की क्या परिस्थिति थी, इसका तादृश चित्रण निशीथ-भाष्य और चूर्णि में मिलता है। तथा कई शब्द ऐसे भी हैं, जो अन्य शास्त्रों में यथास्थान प्रयुक्त मिलते तो हैं, किन्तु उनका मूल अर्थ क्या था, यह अभी विद्वानों को ज्ञात नहीं है। निशीथ-चूर्णि उन शब्दों का रहस्य स्पष्ट करने की दिशा में एक उत्कृष्ट सावन है, यह कहने में तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है।

'निसीह' शब्द और उसका अर्थ :

आचारांग निर्युक्ति में पांचवीं चूला का नाम 'आयार पकप्प' तथा 'निसीह' दिया हुआ है[२]। अन्यत्र भी उक्त शास्त्र के ये दोनों नाम मिलते हैं। नन्दी में (सू० ४४) और पक्खियसुत्त (पृ० ६६) में भी 'निसीह' शब्द प्रस्तुत शास्त्र के लिये प्रयुक्त है। धवला में इसका निर्देश 'णिसिहिय' शब्द से हुआ है। तथा जय धवला में 'णिसीहिय' का निर्देश है[३]। और अंगप्रज्ञप्ति चूलिका में (गा० ३४) 'णिसेहिय' रूप से उल्लेख है।

'निसीह' शब्द का संस्कृत रूप 'निशीथ', तत्त्वार्थ-भाष्य[४] जितना तो प्राचीन है ही। किन्तु दिगम्बर साहित्य में उपलब्ध 'णिसिहिय'—या 'णिसीहिय' शब्द का संस्कृत रूप 'निषिधक' हरिवंश पुराण में (१०, १३८) मिलता है, किन्तु गोम्मट सार टीका में 'निषिद्धिका' रूप निर्दिष्ट है, "निषेधनं प्रमाददोषनिराकरणं निषिद्धिः, संज्ञायां क प्रत्यये 'निषिद्धिका' प्रायश्चित्तशास्त्रमित्यर्थः।"

(जीव काण्ड, गा० ३६८)

वेवर ने 'निसीह' शब्द के विषय में लिखा है :

This name is explained strangely enough by Nishitha though the

---

१. नि० गा० ४९५—६

२. आचा० नि० गा० २९१, ३४७

३. षट्खण्डागम, भाग १ पृ० ९६, कसायपाहुड, भाग १ पृ० २५, १२१ टिप्पणों के साथ देखें।

४ तत्त्वार्थ भाष्य १, २०

character of the Contents would lead us to expect Nishedha (निषेध)[1]

अर्थात् उनके मतानुसार 'निसीह' शब्द का स्पष्टीकरण संस्कृत में 'निषेध' शब्द के साथ संबन्ध जोड़कर होना चाहिए, न कि 'निशीथ' शब्द से। अपने इस मत की पुष्टि में उन्होंने दश सामाचारीगत द्वितीय 'नैषेधिकी' समाचारी के लिये प्रयुक्त[2] 'निसीहिया' शब्द को उपस्थित किया है। तथा स्वाध्याय-स्थान के लिये प्रयुक्त 'निसीहिया'[3] शब्द का भी उल्लेख किया है। और उन शब्दों की व्याख्याओं को देकर यह फलित किया है कि From this we may indubitably couclude that the explanation by Nishitha (निशीथ) is simply an error[4]—अर्थात् 'निसीह' शब्द को 'निशीथ' शब्द के द्वारा व्याख्यान करना भ्रम है। गोम्मटसार की व्याख्या भी इसी ओर संकेत करती है। दिगम्बरपरंपरा में इस शास्त्र के लिये प्रयुक्त शब्द 'णिसिहिय' या 'णिसीहिय' है। अतएव उक्त शब्द की व्याख्या, उस प्रकार के अन्य शब्द के आधार पर, 'निषिधक' या 'निषिद्धिका' होना असंगत नहीं लगता।

दिगम्बरों के यहाँ प्राकृत शब्दों का जब संस्कृतीकरण हुआ, तब उनके समक्ष ये मूल शास्त्र तो थे नहीं। अतएव शब्दसादृश्य के कारण वैसा होना स्वाभाविक था। किन्तु देखना यह है कि जिनके यहाँ मूल शास्त्र विद्यमान था और वह पठन पाठन में भी प्रचलित था, उन्होंने यदि उन्होंने 'निसीह' की संस्कृत व्याख्या 'निशीथ' शब्द से की तो, क्या वह उचित था या नहीं? समग्र ग्रन्थ के देखने से, और निर्युक्तिकार आदि ने जो व्याख्या की है उसके आधार पर, तथा खास कर तत्त्वार्थ भाष्य को देखते हुए, यही कहना पड़ता है कि 'निसीह' शब्द का संस्कृत व्याख्याकारों ने जो 'निशीथ' के साथ जोड़ा है, वह अनुचित नहीं है। निशीथ सूत्र में [illegible] निषेध नहीं है, किन्तु निषिद्धवस्तु के आचरण से जो प्रायश्चित्त होता है उसका विधान है[5]। अर्थात् जहाँ कल्प आदि सूत्रों में या आचारांग की प्रथम चार चूलाओं में निषेधों की तालिका है वहाँ निशीथ में उनके लिये प्रायश्चित्त का विधान है। स्पष्ट है कि निषिद्ध वस्तु का या निषेध का प्रतिपादन करना, यह इस ग्रन्थ का मुल्य प्रयोजन नहीं है। गौणरूप से उन निषिद्ध वस्तुओं का प्रसंगवश उल्लेख मात्र है। क्योंकि उनका कथन किए विना प्रायश्चित्त का विधान कैसे होता? ध्यान देने की वात तो यह है कि इस ग्रन्थ में ऐसा एक भी सूत्र नहीं मिलता, जो निषेधपरक हो। ऐसी स्थिति में 'निषेध' के साथ इसका संबन्ध जोड़ना अनावश्यक है। वस्तु स्थिति यह है कि वेवर ने और गोम्मट-टीकाकार ने, इस ग्रन्थ के नाम का जो अर्थ प्राचीन टीकाकारों ने

---

१. इन्डियन एन्टीक्वेरी, भा० २१, पृ० ९७
२. उत्तराध्ययन २६, २
३. दशवै० ५, २, २
४. इन्डियन एन्टीक्वेरी, भा० २१, पृ० ९७
५. इसका समर्थन वीरसेनाचार्य ने भी किया है—"णिसिहियं बहुविहपायच्छित्तविहाणवण्णणं कुणइ"—धवला, भाग १, पृ० ९८।
"णाणाभेदणिरूवणं पायच्छित्तविहाणं णिसीहियं वण्णेदि"—जयधवला, भा० १, पृ० [illegible]

किया है, उस पर ध्यान नहीं दिया। अतएव उनको यह कल्पना करनी पड़ी कि मूल शब्द 'निसीह' का संस्कृत रूप 'निषेध' से सम्बन्ध रखता है। 'निशीथ' नाम के जो अन्य पर्याय-वाचक शब्द दिये हैं[1], उनमें भी कोई निषेधपरक नाम नहीं है। ऐसी स्थिति में इस ग्रन्थ का नाम निशीथ के स्थान में 'निषेध' करना उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। टीकाकारों को 'निसीहिया' शब्द और उसका अर्थ अत्यन्त परिचित भी था। ऐसी स्थिति में यदि उसके साथ 'निसीह' शब्द का कुछ भी सम्बन्ध होता, तो वे अवश्य ही वैसी व्याख्या करते। परन्तु वैसी व्याख्या नहीं की, इससे भी सिद्ध होता है कि 'णिसीह' का 'निशीथ' से सम्बन्ध है, न कि 'निषेध' से।

'णिसीह'—निशीथ शब्द की व्याख्या, परम्परा के अनुसार निक्षेप पद्धति का आश्रय लेकर, निर्युक्ति-भाष्य—चूर्णि में की गई है[2]। उसका सार यहाँ दिया जाता है, ताकि निशीथ शब्द का अर्थ स्पष्ट हो सके, और प्रस्तुत में क्या विवक्षित है—यह भी अच्छी तरह ध्यान में आ सके।

निशीथ शब्द का सामान्य अर्थ किया गया है—अप्रकाश।—'णिसीहमप्रकाशम्'[3]। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से जो निशीथ की विवेचना की गई है, उस पर से भी उसके वास्तविक अर्थ का संकेत मिलता है।

द्रव्य निशीथ मैल या कालुष्य है। गंदले पानी में कतक वृक्ष के फल का चूर्ण डालने पर उसका जो मैल नीचे बैठ जाता है वह द्रव्य निशीथ है, और उसका प्रतियोगी स्वच्छ जल अनिशीथ है। अर्थात् जो द्रव्य अस्वच्छ या कलुष है, वह निशीथ है।

क्षेत्र-दृष्टि से लोक में जो कलुष अर्थात् अंधकारमय प्रदेश हैं उन्हें भी निशीथ की संज्ञा दी गई है। देवलोक में अवस्थित कृष्ण राजियों को, तिर्यग्लोक में असंख्यात द्वीप समूहों के उस पार अवस्थित तमःकाय को, तथा सीमंतक आदि नरकों को अंधकारावृत होने से निशीथ कहा गया है। मैल जिस प्रकार स्वयं कलुष या अस्वच्छ है अर्थात् स्वच्छ जल की भांति प्रकाश-रूप नहीं है, वैसे ही ये प्रदेश भी कलुष ही हैं। वहाँ प्रकाश नहीं होता, केवल अंधकार ही अंधकार है। इस प्रकार क्षेत्र की दृष्टि से भी अप्रकाश, अप्रकट, या अस्वच्छ प्रदेश, अर्थात् अंधकारमय प्रदेश ही निशीथ है।

काल की दृष्टि से रात्रि को निशीथ कहा जाता है, क्योंकि उस समय भी प्रकाश नहीं होता, अपितु अंधकार का ही राज्य होता है। अतएव रात्रि या मध्यरात्रि भी काल-दृष्टि से निशीथ है।[4]

---

१. नि० गा० ३
२. नि० गा० ६७ से
३. नि० चू० गा० ६८, १४८३
४. रात में होने वाले स्वाध्याय को भी 'निशीथिका' कहा गया है। इसी पर से प्रस्तुत सूत्र, जो प्रायः अप्रकाश में पढ़ा जाता है, निशीथ नाम से प्रसिद्ध हुआ है। धवला और जयधवला में 'निशीथिका' का ही प्राकृतरूप 'निसीहिया' स्वीकृत है, ऐसा मानना उचित है।

भाव की दृष्टि से जो अप्रकाशरूप हो वह निशीथ कहा जाता है। अर्थात् प्रस्तुत निशीथ सूत्र, इसीलिये निशीथ कहा गया कि यह सूत्ररूप में, अर्थ रूप में और उभय रूप से सर्वत्र प्रकाश-योग्य नहीं है, किन्तु एकान्त में ही पठनीय है। चर्चा का सार यह है कि जो अंधकारमय है—अप्रकाश है, वह लोक में निशीथ नाम से प्रसिद्ध है। अतएव जो भी अप्रकाश-धर्मक हो, वह सब निशीथ कहे जाने योग्य है।

'जं होति अप्पगासं, तं तु णिसीहं ति लोग-संसिद्धं।
जं अप्पगासधम्मं, अण्णं पि तयं निसीधं ति।'

—नि० [illegible]

भाव निशीथ का लौकिक उदाहरण रहस्य सूत्र है। हर किसी के लिये अप्रकाशनीय रहस्य सूत्रों में विद्या, मंत्र और योग का परिगणन किया गया है। ये सूत्र अपरिपक्व बुद्धि वाले पुरुष के समक्ष प्रकाशनीय नहीं हैं, फलतः गुप्त रखे जाते हैं। उसी प्रकार प्रस्तुत निशीथ सूत्र भी गुप्त रखने योग्य होने से 'निशीथ' है।

चूर्णिकार ने निशीथ शब्द का उपर्युक्त मूलानुसारी अर्थ करके दूसरे प्रकार से भी अर्थ देने का प्रयत्न किया है :

कतक फल को द्रव्य निसीह कह सकते हैं, क्योंकि उसके द्वारा जल का मल बैठ जाता है अर्थात् जल से मल का अंश दूर हो जाता है—"जहा तेण [illegible] पक्खित्तेण मलो णिसीयति—उद्गादवगच्छतीत्यर्थः।" प्रस्तुत में प्राकृत शब्द 'निसीह' का [illegible] संस्कृत शब्द नि × सद् से जोड़ा गया है।[1]

क्षेत्र-णिसीह, द्वीप समुद्रों से बाहिरी लोक है, क्योंकि वहां जीव और पुद्गलों का [illegible] ज्ञात होता है। "खेत्तणिसीहं बहिद्दीवसमुद्दादिलोगा य, जम्हा ते पप्प जीवपुग्गलाणं [illegible] गच्छति।" जिस प्रकार द्रव्य निशीथ में पानी से मैल का अपगम विवक्षित था, उसी प्रकार [illegible] भी अपगम ही विवक्षित है। अर्थात् ऐसा क्षेत्र, जिसके प्रभाव से जीव तथा पुद्गलों का [illegible] होता है—अर्थात् वे दूर हो जाते हैं, क्षेत्र निशीथ कहा जाता है।

कालणिसीह दिन को कहा गया है; वह इसलिये कि रात्रि के अंधकार का अपगम दिन होते ही हो जाता है। "कालणिसीहं अहो, तं पप्प रातितमस्स निसीदणं भवति।" यहां भी निशीथ शब्द का अपगम अर्थ ही अभिप्रेत है।

भावणिसीह की व्याख्या स्वयं भाष्य कार ने की है :

अट्ठविह-कम्मपंको णिसीयते जेण तं णिसीधं।

—नि० [illegible]

---

1. 'उपनिषद' शब्द में भी 'उप + नि + सद' है। इसका अर्थ है—जिस [illegible] से अज्ञानमल निरस्त होता है वह 'उपनिषद' है। अथवा जो गुरु के समीप [illegible] जाता है वह 'उपनिषद' है।

अर्थात् अष्टविध कर्ममल जिससे वैठ जाए[1]—दूर हो जाए, वह निशीथ है।

स्पष्ट है कि यहाँ भी णिसीह शब्द में मूल धातु नि × सद् ही माना गया है। 'उपनिषद्' शब्द में भी उप × नि × सद् धातु है। उसका तात्पर्य भी पास में बिठा कर गुरु द्वारा दी जाने वाली विद्या से है। अर्थात् उपनिषद् शब्द का भी 'रहस्य' 'गोप्य' एवं 'अप्रकाश्य' अर्थ की ओर ही संकेत है। निषेध शब्द में मूल धातु नि × सिध् है। अतः स्पष्ट ही है कि वह यहाँ विवक्षित नहीं है।

तात्पर्य यह है कि णिसीह—निशीथ शब्द का मुख्य अर्थ गोप्य है। अस्तु जो रात्रि की तरह अप्रकाशरूप हो, रहस्यमय हो, अप्रकाशनीय हो, गुप्त रखने योग्य हो, अर्थात् जो सर्व-साधारण न हो, वह निशीथ है। यह आचार-प्रकल्प शास्त्र भी वैसा ही है, अतः इसे निशीथ सूत्र कहा गया है। णिसीह=निशीथ शब्द का दूसरा अर्थ है—जो निसीदन करने में समर्थ हो। अर्थात् जो किसी का अपगम करने में समर्थ हो, वह 'णिसीह[2]=निशीथ है। आचारप्रकल्प शास्त्र भी कर्ममल का निसीदन—निराकरण करता है, अतएव वह भी निशीथ कहा जाता है। हाँ, तो उपर्युक्त दोनों अर्थों के आधार पर प्राकृत 'णिसीह' शब्द का सम्बन्ध 'निषेध' से नहीं जोड़ा जा सकता।

निशीथ चूर्णि में शिष्य की ओर से शंका की गई है कि[3] यदि कर्मविदारण के कारण आयारपकप्प शास्त्र को निशीथ कहा जाता है, तब तो सभी अध्ययनों को निशीथ कहना चाहिए; क्योंकि कर्मक्षय करने की शक्ति तो सभी अध्ययनों में है। गुरु की ओर से उत्तर दिया गया है कि अन्य सूत्रों के साथ समानता रखते हुए भी इसकी एक अपनी विशेषता है, जिसके कारण यह सूत्र 'निशीथ' कहा जाता है। वह विशेषता यह है कि यह शास्त्र, अन्यों को अर्थात् अधिकारी से भिन्न व्यक्तियों को, सुनने को भी नहीं मिलता[4]। अगीत, अति परिणामी और अपरिणामी अनधिकारी हैं, अतः वे उक्त अध्ययन को सुनने के भी अधिकार नहीं हैं, क्योंकि यह सूत्र अनेक अपवादों से परिपूर्ण है। और उपर्युक्त अनधिकारी अनेक दोषों से युक्त होने के कारण यत्र तत्र अर्थ का अनर्थ कर सकते हैं।

एक और भी शंका-समाधान दिया गया है। वह यह कि जिस प्रकार लौकिक आरण्यक आदि शास्त्र रहस्यमय होने से निशीथ हैं, उसी प्रकार प्रस्तुत लोकोत्तर शास्त्र भी निशीथ है। दोनों में रहस्यमयता की समानता होने पर भी प्रस्तुत आचारप्रकल्पशास्त्र-रूप निशीथ की यह विशेषता है कि वह कर्ममल को दूर करने में समर्थ है, जबकि अन्य लौकिक निशीथ—

---

१. यहाँ वैठने से कर्म का क्षय, क्षयोपशम और उपशम विवक्षित है।

२. गाथा में 'णिसीध' पाठ है। वह 'कथ' के 'कध' रूप की याद दिलाता है। मात्र शब्द-श्रुति के आधार पर 'णिसीध' का 'निषेध' से सम्बन्ध न जोड़िए, क्योंकि व्युत्पत्ति में 'णिसीयते जेण' लिखा हुआ है।

३. नि० गा० ७० की चूर्णि।

४. 'अविसेसे वि विसेसो सुइं पि जं णेइ अण्णेसिं'—नि० गा० ७०

आरण्यकादि वैसे नहीं हैं। आरण्यकादि शास्त्र तो सब कोई सुन सकते हैं, जब कि प्रस्तुत निशीथ शास्त्र अन्य तीर्थिकों के श्रुतिगोचर भी नहीं होता। स्वतीर्थिकों में भी अगीतार्थ आदि इसके अधिकारी नहीं हैं। यही इसकी विशेषता है।[1]

यह चर्चा भी इस बात को सिद्ध करती है कि णिसीह शब्द का सम्बन्ध निषेध से नहीं, किन्तु रहस्यमयता या गुप्तता से है। अर्थात् निसीह का जो अप्रकाश रूप निशीथ अर्थ किया गया है, वही मौलिक अर्थ है।

प्रस्तुत निशीथ सूत्र का तात्पर्य निषेध से नहीं है—इसकी पुष्टि निर्युक्ति, भाष्य तथा चूर्णि ने, जो इस शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय या अधिकार बताया है, उससे भी होती है। कहा गया है कि आचारांग सूत्र के प्रथम नव ब्रह्मचर्य अध्ययनों और चार चूलाओं में उपदेश दिया गया है, अर्थात् कर्तव्याकर्तव्य का विवेक बताया गया है। किन्तु पांचवीं चूला निशीथ में विस्मरणकर्ता के लिये प्रायश्चित्त का विधान है। अर्थात् निशीथ चूला का प्रतिपाद्य विषय प्रायश्चित्त है।[2] अतएव स्पष्ट है कि प्रस्तुत 'णिसीह' शब्द का संस्कृतरूप 'निषेध' नहीं बन सकता।

'निशीथ' के पर्याय :

आचारांग की चूलाओं के नाम निर्युक्ति में जहां गिनाए हैं, वहां पांचवीं चूला का नाम 'आयारपकप्प'[3]='आचार प्रकल्प' बताया गया है। आगे चलकर स्वयं निर्युक्तिकार ने पांचवीं चूला का नाम 'निसीह'[4]=निशीथ भी दिया है। अतएव निशीथ अथवा आचार प्रकल्प, ये दोनों नाम इसके सिद्ध होते हैं[5]। टीकाकार भी इसका समर्थन करते हैं। देखिए,=टीकाकार ने 'आयारपकप्प' शब्द का पर्याय 'निशीथ' दिया है—"आचारप्रकल्पः—निशीथः" (आचा० नि० टी० २९१)। टीका में अन्यत्र चूलाओं के नाम की गणना करते हुए भी टीकाकार उसका नाम 'निशीथाध्ययन' देते हैं[6]। उक्त प्रमाणों पर से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये दोनों नाम एक ही सूत्र की सूचना देते हैं।

निशीथ सूत्र के लिए पकप्प शब्द भी प्रयुक्त है। परन्तु, आयारपकप्प का ही संक्षिप्त नाम 'पकप्प' हो गया है, ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि निशीथ-चूर्णि के प्रारंभ में—"एवं कयप्पणामो पकप्पनामस्स विवरणं वन्ने"—(नि० चू० पृ० १) ऐसा चूर्णिकार ने कहा है। आचार शब्द का लोप

---

१. नि० गा० ७० की चूर्णि

२. नि० गा० ७१

३. आचा० नि० २९१। नि० गा० २

४. आचा० नि० गा० ३४७

५. निशीथ-चूर्णिकार भी इसे निसीह चूला कहते हैं—नि० पृ० १

६. आचा० नि० टी० गा० ११

देकर जिस प्रकार 'पकप्प' नाम हुआ, उसी प्रकार 'पकप्प' शब्द का छेद देकर केवल 'आयार' भी इसका नाम हो गया है—ऐसा गुणनिष्पन्न नामों की सूचि के देखने से पता चलता है।

"आयारपकप्पस्स उ इमाइं गोण्णाइं णामधिज्जाइं आयारमाइयाइं"—नि० गा० २।

निशीथ के जो अन्य गुणनिष्पन्न नाम हैं, वे ये हैं=अग्ग=अग्र, चूलिया=चूलिका[१]। यह सब, नाम के एक देश को नाम मानने की प्रवृत्ति का फल है। साथ ही, इस पर से यह भी ध्वनित होता है कि आचारांग का यह अध्ययन सबसे ऊपर है, या अंतिम है।

अन्यत्र भी निशीथ सूत्र के निशीथ[२], 'पकप्प'[३]=प्रकल्प और 'आयारपकप्प'[४]=आचार प्रकल्प ये नाम मिलते हैं।

दिगम्बर परम्परा में, जैसा कि हम पूर्व बता आए हैं, इसके नाम 'निसिहिय', 'निसीहिय' 'निषिधक', और 'निषिद्धिका' प्रसिद्ध हैं।

निशीथ का आचारांग में संयोजन और पृथक्करण :

आचारांग-निर्युक्ति की निम्न गाथा से स्पष्ट है कि प्रारंभ में मूल आचारांग केवल प्रथम स्कंध के नव ब्रह्मचर्य अध्ययन तक ही सीमित था। पश्चात् यथासमय उसमें वृद्धि होती गई। और वह प्रथम 'बहु' हुआ और तदनन्तर-'बहुतर' अर्थात् आचारांग के परिमाण में क्रमशः वृद्धि होती गई, यह निम्न गाथा पर से स्पष्टतः प्रतिलक्षित होता है :

णवबंभचेरमइओ अट्ठारसपयसहस्सिओ वेओ।
हवइ य सपंचचूलो बहु-बहुतरओ पयग्गेणं।
—आचा० नि० ११

निर्युक्ति में प्रयुक्त 'बहु' और 'बहुतर' शब्दों का रहस्य जानना आवश्यक है। आचारांग के ही आधार पर प्रथम की चार चूलाएँ बनीं और जब वे आचारांग में जोड़ी गईं, तब वह 'बहु' हुआ। प्रारंभ की चार चूलाएं 'निशीथ' के पहले बनीं, अतएव वे प्रथम जोड़ी गईं। इसका प्रमाण यह है कि समवाय[५] और नंदी[६]—दोनों में आचारांग का जो परिचय उपलब्ध है, उसमें मात्र २५ ही अध्ययन कहे गये हैं। तथा अन्यत्र समवाय, में जहाँ आचार, सूयगड, स्थानांग के अध्ययनों की संख्या का जोड़ ५७ बताया गया है, वहाँ भी निशीथ का वर्जन करके आचारांग के मात्र २५ अध्ययन गिनने पर ही वह जोड़ ५७ बनता है[७]। अतएव स्पष्ट है कि प्राचीन

---

१. नि० गा० ३
२. व्यव० विभाग ३, गा० १६८;
३, व्यव० विभाग २ गा० १३७, २२१, २५०, २५४; व्यव० उद्देश ३, गा० १६६
४. व्यवहार सूत्र उद्देश ३, सू० ३, पृ० २७
५. समवाय सूत्र १३६
६. नंदी सू० ४५
७. समवाय सू० ५७

आगम-संकलन काल में एक काल ऐसा रहा है, जब चार चूलिकाएँ तो आचारांग में जोड़ी जा चुकी थीं, किन्तु निशीथ नहीं जोड़ा गया था। एक समय आया कि जब निशीथ भी जोड़ा गया, और तभी वह 'बहु' से 'बहुतर' हो गया। और उसके २६ अध्ययन हुए।

नंदी सूत्र और पक्खियसुत्त – दोनों में आगमों की जो सूची दी गई है, उसे देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि उस काल तक आगमों के वर्गीकरण में छेद-जैसा कोई वर्ग नहीं था। नंदी और पक्खियसुत्त में अंग बाह्य ग्रन्थों की गणना के समय, कालिक श्रुत में[1], निशीथ को स्थान मिला है। इससे स्पष्ट है कि एक ओर नंदी के अनुसार ही आचारांग के २५ अध्ययन हैं, तथा दूसरी ओर नंदी में ही अंग बाह्य ग्रन्थों की सूची में निशीथ को स्थान प्राप्त है। अतएव यही कहना पड़ता है कि उक्त नंदी सूची के निर्माण के समय निशीथ आचारांग से पृथक् था। किन्तु आचारांग-नियुक्ति के अनुसार निशीथ आचारांग की ही पांचवीं चूला अर्थात् २६ वाँ अध्ययन है। इसका फलितार्थ यह होता है कि नन्दीगत आगम-सूची का निर्माण-काल और आचारांग नियुक्ति की रचना का काल, इन दोनों के बीच में ही कहीं निशीथ आचारांग में जोड़ा गया है।

और यदि नंदी को नियुक्ति[2] के बाद की रचना माना जाए, तब तो यह कहना अधिक ठीक होगा कि इस बीच वह (निशीथ) 'आचारांग' से पृथक् किया गया था।

अब प्रश्न यह है कि निशीथ को आचारांग में ही क्यों जोड़ा गया ? पूर्वगत आचार नामक वस्तु के आधार पर निशीथ का निर्माण हुआ था और उसका वास्तविक एवं प्राचीन नाम आचार-प्रकल्प था। अतएव कल्पना होती है कि संभवतः विषय साम्य की दृष्टि से ही वह आचारांग में जोड़ा गया हो। और ऐसा करने का कारण यह प्रतीत होता है कि आचार-प्रकल्प में प्रायश्चित्त का विधान होने से यह आवश्यक था कि वह प्रामाणिकता की दृष्टि से स्वयं तीर्थंकर के उपदेश से कम न हो ! अंग ग्रन्थों का प्रणयन तीर्थंकर के उपदेश के आधार पर गणधर करते हैं, ऐसी मान्यता होने से अंगों का ही लोकोत्तर आगमरूप प्रामाण्य सर्वाधिक है। अस्तु प्रामाण्य की प्रस्तुत उत्तम कोटि के लिए ही आचार प्रकल्प-निशीथ को आचारांग का एक अंश या चूला माना गया, हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

प्रथम की चार चूला तो आचारांग के आधार पर ही बनी थीं[3]। अतएव उनका समावेश तो आचारांग की चूला-रूप में सहज था ही। किन्तु पांचवीं चूला निशीथ का आधार आचारांग न होने पर भी उसे आचारांग में ही सम्मिलित करने में इस लिये आपत्ति नहीं थी, क्योंकि समग्र अंग ग्रन्थों के मूलाधार पूर्वग्रन्थ माने जाते थे। प्रस्तुत चूला का निर्माण पूर्वगत आचार वस्तु नामक प्रकरण से हुआ था[4]। और विषय भी आचारांग से सम्बद्ध था। निशीथ का एक नाम 'आचार'[5] भी है। वह भी इसी ओर संकेत करता है।

---

१. हि० के० पृ० २४—२५

२. नियुक्तियाँ जिस रूप में आज उपलब्ध हैं; वह उनका अन्तिम रूप है। किन्तु नियुक्ति तो जब से व्याख्यान शुरू हुआ तभी से होने लग गया था।

३. आचा० नि० गा० २८८–२९०

४. आचा० नि० गा० २९१

५. नि० गा० ३

अब इस प्रश्न पर विचार करें कि केवल इसी चूला को पृथक् क्यों किया गया ? और कब किया गया ? नाम से सूचित होता है कि यह ग्रन्थ रहस्यरूप है—गुप्त रखने योग्य है। और यह भी कहा गया है कि यह ग्रन्थ अपवाद मार्ग से परिपूर्ण है। अतः उक्त विशेषताओं के कारण यह आवश्यक हो गया कि हर कोई व्यक्ति इसे न पढ़े। उक्त मान्यता के मूल में यह डर भी था कि कहीं अनधिकारी व्यक्ति इसे पढ़कर अपने दुराचरण के समर्थन में इसका उपयोग न करने लगें। अतएव इसके अध्ययन को मर्यादित करना आवश्यक था।[1]

प्राचीन काल में जब तक दशवैकालिक की रचना नहीं हुई थी, तब तक यह व्यवस्था थी कि दीक्षार्थी को सर्वप्रथम आचारांग का प्रथम अध्ययन शस्त्रपरिज्ञा पढ़ाया जाता था। और दीक्षा देने के बाद भी आचारांग के पिंडैषणा संबन्धी प्रमुख अंश पढ़ने के बाद ही वह स्वतन्त्र भाव से पिंडैषणा के लिये जा सकता था। इससे पता चलता है कि दीक्षा के पहले ही आचारांग की पढ़ाई शुरू हो जाती थी[2]। किन्तु निशीथ की अपनी विशेपता के कारण यह आवश्यक हो गया था कि उसे परिपक्व बुद्धि वाले ही पढ़ें, और इसीलिये यह नियम बनाना पड़ा कि कम-से-कम तीन वर्ष का दीक्षा-पर्याय होने पर ही[3] निशीथ का अध्ययन कराया जाए। संभव है, ऐसी स्थिति में निशीथ को शेष आचारांग से पृथक् करना अनिवार्य हो गया हो ?

दूसरी बात यह भी है कि निशीथ सूत्र मूल में ही अपवाद-बहुल ग्रन्थ है। और जैसे-जैसे उस पर निर्युक्ति,-भाष्य-चूर्णि-विशेष चूर्णि आदि टीका ग्रन्थ बनते गये, वैसे-वैसे उसमें उत्तरोत्तर अपवाद बढ़ते ही गये। ऐसी स्थिति में वह उत्तरोत्तर अधिकाधिक गोपनीय होता जाए, यह स्वाभाविक है। फलस्वरूप शेष ग्रन्थ से उसका पार्थक्य अनिवार्य हो जाए, यह भी सहज है। इस प्रकार जब आचारांग के शेषांश से निशीथ का पार्थक्य अनिवार्य हो गया, तब उसे सर्वथा आचारांग से पृथक् कर दिया गया।

अब प्रश्न यह है कि नंदी और अनुयोगद्वार की तरह नवीन वर्गीकरण में उक्त सूत्र को चूलिका सूत्र-रूप से पृथक् ही क्यों न रखा गया, छेद में ही शामिल क्यों किया गया ? इसका उत्तर सहज है कि जब दशा, कल्प, और व्यवहार, जिनका कि मूलाधार प्रत्याख्यान पूर्व था, छेद ग्रन्थों में संमिलित किये गये, तो निशीथ भी उसी प्रत्याख्यान पूर्व के आधार से निर्मित होने के कारण छेद ग्रन्थों में शामिल कर लिया जाए, यह स्वाभाविक है। इतना ही नहीं, किन्तु निशीथ का भी वैसा ही विषय है, जैसा कि अन्य छेद ग्रन्थों का। यह भी एक प्रमाण है, जो निशीथ सूत्र को छेद सूत्रों की शृंखला में जोड़े जाने की ओर महत्त्व पूर्ण संकेत है।

---

१. नि० गा० ६६, ७० की चूर्णि

२. व्यवहार उद्देश ३. विभाग ४, गा० १७४–१७६

३. व्यवहार उद्देश १०, सू० २१ पृ० १०७।

निशीथ सूत्र अंग या अंगबाह्य ?

समग्र आगम ग्रन्थों का प्राचीन वर्गीकरण है—अंग और अंगबाह्य। निशीथ सूत्र के नाम से जो ग्रन्थ हमारे समक्ष है, उसे आचारांग की पांचवीं चूला[1] कहा गया है और अध्ययन की दृष्टि से वह आचारांग का छब्बीसवां अध्ययन घोषित किया गया है[2]। इस पर से स्पष्ट है कि वह कभी अंगान्तर्गत रहा है। किन्तु एक समय ऐसा आया कि उसको आचारांग सूत्र से इस अध्ययन को पृथक् कर दिया गया; और इसका छेद सूत्रों में परिगणन किया जाने लगा। तदनुसार यह निशीथ सूत्र, अंग ग्रन्थ-आचारांग का अंग होने के कारण अंगान्तर्गत होते हुए भी, अंग बाह्य हो गया[3] है।

वस्तुतः देखा जाए तो अंग और अंगबाह्य जैसा विभाग उत्तरकालीन ग्रन्थों में नहीं होता है, किन्तु अंग, उपांग, छेद, मूल, प्रकीर्णक और चूलिका—इस रूप में आगम ग्रन्थों का विभाग होता है। और तदनुसार निशीथ छेद[4] में संमिलित किया जाता है।

एक बात की ओर यहां विशेष ध्यान देना आवश्यक है कि स्वयं आचारांग में भी 'निशीथ' एक अंतिम चूला रूप है। इसका अर्थ यह है कि वह कभी-न-कभी मूल आचारांग से जोड़ा गया था। और विशेष कारण उपस्थित होने पर उसे पुनः आचारांग से पृथक् कर दिया गया।

उपर्युक्त विवेचन पर से यह कहा जा सकता है कि निशीथ मौलिक रूप में आचारांग का अंश था ही नहीं, किन्तु उसका एक परिशिष्ट मात्र था। इस दृष्टि से छेद में, जो कि अंगबाह्य या अंगेतर वर्ग था, निशीथ को संमिलित करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती थी।

अंगवर्ग के अन्तर्गत न होने मात्र से निशीथ का महत्त्व अन्य अंग ग्रन्थों से कुछ कम हो गया है—यह तात्पर्य नहीं है; क्योंकि निशीथ का अपना जो महत्त्व है, वही तो उसे छेद के अन्तर्गत करने में कारण है। निशीथ को आचारांग का अंग केवल श्वेताम्बर आम्नाय में माना जाता है, यह भी ध्यान देने की बात है। दिगम्बर आम्नाय में निशीथ को अंगबाह्य ग्रन्थ ही[5] माना गया है। अंगों में उसका स्थान नहीं है। वस्तुतः अंग की व्याख्या के अनुसार निशीथ अंग बाह्य ही होना चाहिए। क्योंकि वह गणधरकृत तो है नहीं। स्थविर या आरातीय आचार्यकृत है। अतएव जैसा कि दिगम्बर आम्नाय में उसे केवल अंगबाह्य कहा गया है, वस्तुतः वह अंगबाह्य ही होना चाहिए। और श्वेताम्बरों के यहां भी अंततोगत्वा छेद वर्ग में संमिलित होकर वह अपने ठीक स्थान पर पहुँच गया है।

---

१. नि० पृ० २
२. वही पृ० ४
३. छेदवर्ग में अन्तर्गत होने पर भी भाष्यकार और चूर्णिकार तो इसे अंगान्तर्गत ही मानते रहे—देखो, नि० गा० ६१६० और उसका उत्थान तथा निशीथ चूर्णि का प्रारंभिक अंश।
४. हि० के० पृ० ३५—४१
५. देखो, षट्खण्डागम भाग १ पृ० ९६, तथा कषायपाहुड भाग १ पृ० २५, १२१।

दिगम्बरों के यहाँ केवल १४ ग्रन्थों को ही अंगवाह्य बताया गया है, और उन चौदह में छः तो आवश्यक के छः अध्ययन ही हैं। ऐसी स्थिति में निशीथ की प्राचीनता स्वतः सिद्ध हो जाती है। और इस पर से यह भी संभवित है कि वह श्वेताम्बर-दिगम्बर के भेद के बाद ही कभी आचारांग का अंश माना जाने लगा हो।

निशीथ के कर्ता :

आचारांग की निर्युक्ति में तो आचारांग की चूलिकाओं के विषय में स्पष्टरूप से कहा गया है कि—

"थेरेहिऽणुग्गहट्ठा सीसहिअं होउ पागडत्थं च।
आयाराओ अत्थो आयारग्गेसु पविभत्तो ॥"

—आचा० नि० २८७

अर्थात् आचाराग्र=आचारचूलिकाओं के विषय को स्थविरों ने आचार में से ही लेकर शिष्यों के हितार्थ चूलिकाओं में प्रविभक्त किया है।

स्पष्ट है कि गणधरकृत[1] आचार के विषय को स्थविरों ने आचारांग की चूलाओं में संकलित किया है। प्रस्तुत में 'आचार' शब्द के दो अर्थ किये जा सकते हैं। प्रथम की चार चूला तो आचार अंग में से संकलित की गई हैं, किन्तु पांचवीं चूला आयारपकप्प—निशीथ, प्रत्याख्यान नामक पूर्व की आचारवस्तु नामक तृतीय वस्तु के वीसवें प्राभृत में से संकलित है। अर्थात् आचार शब्द से आचारांग और आचारवस्तु—ये दोनों अर्थ अभिप्रेत हों, यह संभव है। ये दोनों अर्थ इसलिये संभव हैं कि निर्युक्तिकार प्रथम चार चूलाओं के आधारभूत आचारांग के तत्तत् अध्ययनों का[2] उल्लेख करने के अनन्तर लिखते हैं कि—

"आयारपकप्पो पुण पच्चक्खाणस्स तइयवत्थूओ।
आयारनामधिज्जा वीसइमा पाहुडच्छेया ॥[3]

—आचा० नि० गा० २८१

पूर्वोक्त आचारांग-निर्युक्ति की 'थेरेहि' (गा० २८७) इत्यादि गाथा के 'स्थविर' शब्द की व्याख्या शीलांक ने निम्न प्रकार से की है—"तत्र इदानीं वाच्यं— केनैतानि निर्यूढानि, किमथ, कुतो वेति ? अत आह—'स्थविरैः' श्रुतवृद्धैश्चतुर्दशपूर्वविद्भि निर्यूढानि—इति"। उक्त कथन पर से हम कह सकते हैं कि शीलांक के कथनानुसार आचार चूला=निशीथ के कर्ता स्थविर थे, और वे चतुर्दश पूर्वविद् थे। किन्तु आचारांग-चूर्णि के कर्ता ने प्रस्तुत गाथा में आए 'स्थविर' शब्द का अर्थ 'गणधर' लिया है—"एयाणि पुण आयारग्गाणि आयारा चेव निज्जूढाणि। केण णिज्जूढाणि ? थेरेहिं (२८७) थेरा—गणधरा।" —आचा० चू० पृ० ३२६

१. आचा० नि० चू० और टी० ८
२. आचा० नि० गा० २८८—२९०।
३. इसी का समर्थन व्यवहार भाष्य से भी होता है—व्यव० विभाग २, गा० २५४

इससे स्पष्ट है कि चूर्णिकार के मत से निशीथ गणधरकृत है।

आचारांग-चूर्णि और निशीथ-चूर्णि के कर्ता भी एक ही प्रतीत होते हैं, क्योंकि निशीथ चूर्णि के प्रारंभ में 'प्रस्तुत चूर्णि कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ है'—ऐसा न कह करके यह कहा गया है कि :

'भणिया विमुत्तिचूला अहुणावसरो णिसीहचूलाए।'

—नि० पृ० १

अर्थात् "आचारांग की चौथी चूला विमुक्ति-चूला की व्याख्या हो गई। अब हम निशीथ की व्याख्या करते हैं।" इससे स्पष्ट है कि निशीथचूर्णि के नाम से सुप्रसिद्ध ग्रन्थ भी आचारांग चूर्णि का ही अंतिम अंश है। केवल, जिस प्रकार आचारांग का अध्ययन होने पर भी आचारांग से निशीथ को पृथक् कर दिया गया है उसी प्रकार निशीथ चूर्णि को भी आचारांग की शेष चूर्णि से पृथक् कर दिया गया है। यही कारण है कि निशीथ-चूर्णि के प्रारंभ में स्वतन्त्र नमस्काररूप मंगल किया गया है।

निशीथ चूर्णि में निशीथ के कर्ता के विषय में निम्न उल्लेख है :

"निसीहचूलज्झयणस्स तित्थगराणं अत्थस्स अत्तागमे, गणहराणं सुत्तस्स अत्तागमे, गणहराणं अत्थस्स अणंतरागमे। गणहरसिस्साणं सुत्तस्स अणंतरागमे, अत्थस्स परंपरागमे। तेण परं सेसाणं सुत्तस्स वि अत्थस्स वि णो अत्तागमे, णो अणन्तरागमे, परंपरागमे।"

—नि० पृ० ४

इससे भी स्पष्ट है कि निशीथ सूत्र के कर्ता अर्थ-दृष्टि से तीर्थंकर हैं, और शब्द अर्थात् सूत्र-दृष्टि से गणधर हैं[1]। अर्थात् स्पष्ट है कि चूर्णिकार के मत से निशीथ सूत्र के कर्ता गणधर हैं। चूर्णिकार के मत का मूलाधार निशीथ की अंगान्तर्गत होने की मान्यता है। सार यह है कि स्थविर शब्द के अर्थ में मतभेद है। शीलांक सूरि, स्थविर शब्द के विशेषण रूप से चतुर्दश पूर्वधारी ऐसा अर्थ तो करते हैं, किन्तु उन्हें गणधर नहीं कहते। जबकि चूर्णिकार स्थविर पद का अर्थ गणधर लेते हैं। चूर्णिकार ने स्थविर पद का अर्थ, गणधर, इसलिए किया कि निशीथ आचारांग का अंग है, और अंगों की सूत्र-रचना गणधरकृत होती है। अतएव निशीथ भी गणधरकृत ही होना चाहिए।

निर्युक्तिकार जब स्वयं निशीथ को स्थविरकृत कहते हैं, तो चूर्णिकार ने इसे गणधरकृत क्यों कहा? इस प्रश्न पर भी संक्षेप में विचार करना आवश्यक है। यह तो ऊपर कहा ही जा चुका है कि निशीथ सूत्र का समावेश अंग में किया गया है। अतएव एक कारण तो यह है ही कि अंगों की रचना गणधरकृत होने से उसे भी गणधरकृत माना जाए। किन्तु यह परिस्थिति तो निर्युक्तिकार के समक्ष भी थी। फिर क्या कारण है कि उन्होंने निशीथ को गणधरकृत न कहकर, स्थविरकृत कहा? जबकि वे स्वयं आवश्यक सूत्र की निर्युक्ति में (गा० ९०) गणधरों का सूत्रकार के रूप में उल्लेख करते हैं। आचारांग-निर्युक्ति के पूर्व ही वे आवश्यक-निर्युक्ति की रचना कर चुके थे, और आवश्यक के सामायिकादि अध्ययनों के कर्ता गणधर हैं, ऐसा भी कह चुके थे[2]। तब आचारांग के द्वितीयस्कंध को उन्होंने ही स्वयं स्थविरकृत क्यों कहा है? यह प्रश्न

१. आवश्यक निर्युक्ति गा० ८९—९०, और गा० १९२। गणधरवाद पृ० ८०

२. 'गणधरवाद' की प्रस्तावना पृ० १०

है। इसका समाधान यही है कि आचारांग का द्वितीय स्कंध वस्तुतः स्थविरकृत था, गणधरकृत नहीं। तव पुनः प्रश्न होता है कि ऐसी स्थिति में चूर्णिकार क्यों ऐसा कहते हैं कि वह गणधरकृत है? आवश्यक सूत्र के विषय में भी ऐसी ही दो परंपराएँ प्रचलित हो गई हैं। इसकी चर्चा मैंने अन्यत्र की है[1]। उसका सार यही है कि प्रामाणिकता की दृष्टि से गणधरकृत का ही महत्त्व अधिक होने से, आगे चलकर, आचार्यों की यह प्रवृत्ति बलवती हो चली कि अपने ग्रन्थ का सम्बन्ध गणधरों से जोड़ें। अतएव केवल अंग ही नहीं, किन्तु अंग वाह्य आगम और पुराण ग्रन्थों को भी गणधरप्रणीत कहने की परंपरा शुरू हो गई। इसी का यह फल है कि प्रस्तुत में निशीथ स्थविरकृत होते हुए भी गणधरकृत माना जाने लगा।

इस परंपरा के मूल की खोज की जाए, तो अनुयोग द्वार से, जो कि आवश्यक सूत्र की व्याख्यारूप है, वस्तु स्थिति का कुछ आभास मिल जाता है। अनुयोगद्वार के प्रारंभ में ही आवश्यक सूत्र का संवन्ध वताते हुए कहा है कि श्रुत दो प्रकार का है—अंग प्रविष्ट और अंग-वाह्य। अंगवाह्य भी दो प्रकार का है—कालिक और उत्कालिक। उत्कालिक के दो भेद हैं—आवश्यक और आवश्यक—व्यतिरिक्त। इस प्रकार श्रुत के मुख्य भेदों में अँग और अंग वाह्य, और अंग वाह्य में आवश्यक और तदतिरिक्त की गणना है[2]। इससे इतना तो फलित होता है कि जव अनुयोग द्वार की रचना हुई, तव अंग के अतिरिक्त भी पर्याप्त मात्रा में आगम ग्रन्थ वन चुके थे। केवल द्वादशांगरूप गणिपिटक ही श्रुत था, ऐसी बात नहीं है। फिर भी इतना विवेक अवश्य था कि आचार्य, अंग और अंगवाह्य की मर्यादा को भली भाँति समझे हुए थे और उनका उचित पार्थक्य भी मानते रहे थे। इस पार्थक्य की मर्यादा यही हो सकती थी कि जो सीधा तीर्थंकर का उपदेश है वह अंगान्तर्गत हो जाय, और जो तदतिरिक्त हो वह अंग-वाह्य रहे। शास्त्रों के प्राचीन अंशों में जहाँ भी जिनप्रणीत श्रुत की चर्चा है वहाँ द्वादशांगी का ही उल्लेख है--यह भी इसी की ओर संकेत करता है। जिनप्रणीत का अर्थ भी यही था कि जितना अर्थ तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट था, उतना जिनप्रणीत कहा गया, फिर भले ही उन अर्थों को ग्रहण करके शाब्दिक रचना गणधरों ने की हो। अर्थात् अर्थागम की दृष्टि से द्वादशांगी जिनप्रणीत है और सूत्रागम की दृष्टि से वह गणधरकृत है। इसीलिये हम देखते हैं कि समवायांग, भगवती, अनुयोग द्वार, नंदी, पट्खंडागम-टीका, कपायपाहुडै-टीका आदि में तीर्थंकरप्रणीत रूप से केवल द्वादशांगी का निर्देश है।[3] तीर्थंकरद्वारा अर्थतः उपदिष्ट वस्तु के आधार पर गणधरकृत शाब्दिक रचना के अतिरिक्त, जो भी हो वह सव, अंगवाह्य है; इस पर से यह भी फलित होता है कि अंग वाह्य की शाब्दिक रचना गणधरकृत नहीं है।

इस प्रकार अनुयोग के प्रारंभिक वक्तव्य से इतना सिद्ध होता है कि श्रुत में अंग और अंगवाह्य-दो प्रकार थे। अनुयोगद्वार में आगे चलकर जहाँ आगम प्रमाण की चर्चा की गई है, यदि उस ओर ध्यान देते हैं, तव यह वात और भी स्पष्ट हो जाती है कि मूल आगम केवल

१. 'गणधरवाद' की प्रस्तावना पृ० ८—१२
२. अनुयोगद्वार सू० ३—५
३. गणधरवाद की प्रस्तावना पृ० ६।

द्वादशांग ही थे। और वही प्रारंभिक काल में प्रमाण-पदवी को प्राप्त हुए थे। आवश्यक का श्रुत से क्या संबन्ध है—यह दिखाना अनुयोग के प्रारंभिक प्रकरण का उद्देश्य रहा है। किन्तु कौन आगम लोकोत्तर आगम प्रमाण है—यह दिखाना, आगे आने वाली आगमप्रमाण चर्चा का उद्देश्य है। उसी आगमप्रमाण की चर्चा में आगम की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है। और प्रतीत होता है कि उन व्याख्याओं का आश्रय लेकर ही अंगेतर=अंगबाह्य ग्रन्थों को भी आगमग्रन्थों के व्याख्याताओं ने गणधरप्रणीत कहना शुरू कर दिया।

अनुयोग द्वार के आगमप्रमाण वाले प्रकरण[1] में आगम के दो भेद किये गये हैं—लौकिक और लोकोत्तर। सर्वज्ञ-तीर्थंकर द्वारा प्रणीत द्वादशांग रूप गणिपिटक—आचार से लेकर दृष्टिवाद पर्यन्त—लोकोत्तर आगम प्रमाण है। इस प्रकार आगम की यह एक व्याख्या हुई। यह व्याख्या मौलिक है और प्राचीनतम आगमप्रमाण की मर्यादा को भी सूचित करती है। किन्तु इस व्याख्या में आगम ग्रन्थों की नामतः एक सूची भी दी गई है, अतएव उससे बाह्य के लिए आगम प्रमाण-संज्ञा वर्जित हो जाती है।

आगम प्रमाण की एक अन्य भी व्याख्या[2] या गणना दी गई है, जो इस प्रकार है: आगम तीन प्रकार का है—सूत्रागम, अर्थागम और तदुभयागम। आगम की एक अन्य व्याख्या भी है कि आगम तीन प्रकार का है—आत्मागम, अनंतरागम और परंपरागम। व्याख्याओं को दृष्टान्त द्वारा इस प्रकार समझाया गया है: तीर्थंकर के लिये अर्थ आत्मागम है, गणधर के लिये अर्थ अनंतरागम और सूत्र आत्मागम है, तथा गणधर-शिष्यों के लिये सूत्र अनंतरागम और अर्थ परंपरागम है। गणधर-शिष्यों के शिष्यों के लिये और उनके बाद होने वाली शिष्य-परंपरा के लिये अर्थ और सूत्र दोनों ही प्रकार के आगम परंपरागम ही हैं। इन दोनों व्याख्याओं में सूत्र पद से कौन से सूत्र गृहीत करने चाहिएँ, यह नहीं बताया गया। परिणामतः तत्तत् अंगबाह्य आगमों के टीकाकारों को अंगबाह्य आगमों को भी गणधरकृत कहने का अवसर मिल गया। निशीथ-चूर्णिकार ने अनुयोगद्वार की प्रक्रिया के आधार पर ही प्रयाण का विवेचन करते हुए यह कह दिया कि निशीथ अध्ययन तीर्थंकर के लिये अर्थ की दृष्टि से आत्मागम है। गणधर के लिए इस अध्ययन का अर्थ अनंतरागम है किन्तु उसके सूत्र आत्मागम हैं—अर्थात् निशीथ सूत्र की रचना गणधर ने की है। और गणधर-शिष्यों के लिये अर्थ परंपरागम है और सूत्र अनंतरागम है। शेष के लिये अर्थ और सूत्र दोनों ही परंपरागम हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अनुयोगद्वार की इस वैकल्पिक व्याख्या ने व्याख्याताओं को अवसर दिया कि वे अंगबाह्य को भी गणधरकृत कह दें, इसलिए कि वह भी तो सूत्र है।

आचार्यों ने कुछ भी कहा हो, किन्तु कोई भी ऐतिहासिक इस बात को नहीं स्वीकार कर सकता कि ये सब अंग-बाह्य ग्रन्थ गणधरप्रणीत हैं. फलतः प्रस्तुत निशीथ भी गणधर कृत है, जबकि वह मूलतः अंग नहीं, अंग का परिशिष्ट मात्र है। अस्तु निर्युक्ति के कथनानुसार यह तो तर्क संगत है कि निशीथ स्थविरकृत ही हो सकता है, गणधरकृत नहीं।

१. अनुयोगद्वार सू० १४७,
२. पूरे भेद गिना देने से भी व्याख्या हो जाती है, ऐसी मान्यता [illegible]

अब प्रश्न यह है कि निशीथ सूत्र के रचयिता कौन स्थविर थे? इस विषय में भी दो मत दिखाई देते हैं। एक मत पंचकल्प भाष्य चूर्णि का है, जिसके अनुसार कहा जाता है कि आचार प्रकल्प—निशीथ को आचार्य भद्रबाहु ने 'निज्जूढ' किया था—"तेण भगवता आयारपकप्प-दसा-कप्प-ववहारा य नवम पुव्वनीसंदभूता निज्जूढा।"[1] किन्तु यह मत उचित है या नहीं, इसकी परीक्षा आवश्यक है। दशा श्रुत-स्कन्ध की निर्युक्ति में तो उन्हें मात्र दशा, कल्प, और व्यवहार का ही सूत्रकार कहा गया है :

"वंदामि भद्दबाहुं पाईणं चरिमसगलसुयनाणिं।
सुत्तस्स कारगमिसिं दसासु कप्पे य ववहारे॥"
—दशा० नि० गा० १

इसी गाथा का पञ्चकल्प भाष्य में व्याख्यान किया गया है[2]। वहाँ अंत में कहा है—

तत्तो च्चिय णिज्जूढं अणुग्गहट्ठाए संपय-जतीणं।
तो सुत्तकारतो खलु स भवति दस-कप्प-ववहारे॥

इससे स्पष्ट है कि पंचकल्प-भाष्यकार तक यही मान्यता रही है कि भद्रबाहु ने दशा, कल्प और व्यवहार-इन तीन छेद ग्रन्थों की रचना की है। किन्तु उसी की चूर्णि में यह कहा गया कि निशीथ की रचना भी भद्रबाहु ने की है। अतएव हम इतना ही कह सकते हैं कि पंचकल्प भाष्य-चूर्णि की रचना के समय यह मान्यता प्रचलित हो गई थी कि निशीथ की रचना भी भद्रबाहु ने की थी। किन्तु इस मान्यता में तनिक भी तथ्य होता तो स्वयं निशीथ भाष्य की चूर्णि में आचार्य भद्रबाहु को सूत्रकार न कहकर, गणधर को सूत्रकार क्यों कहा जाता? अतएव यह सिद्ध होता है कि पंचकल्प भाष्य-चूर्णि का कथन निर्मूल है।

दूसरा मत प्रस्तुत निशीथ सूत्र भाग ४, (पृ० ३९५) के अंत में दी गई प्रशस्ति के आधार पर बनता है कि निशीथ के रचयिता विशाखाचार्य थे। प्रशस्ति इस प्रकार है :

दंसणचरित्तजुत्तो जुत्तो गुत्तीसु सज्जणहिएसु।
नामेण विसाहगणी महत्तरओ गुणाण मंजूसा॥
कित्तीकंतिपिणद्धो जसपत्तो पडहो तिसागरनिरुद्धो।
पुणरुत्तं भमइ महिं ससिव्व गगणं गुणं तस्स॥
तस्स लिहियं निसीहं धम्मधुराधरणपवरपुज्जस्स।
आरोग्गं धारणिज्जं सिस्सपसिस्सोव भोज्जं च॥

यहाँ पर विशाखाचार्य को महत्तर कहा गया है और 'लिहियं' शब्द का प्रयोग है। 'लिहियं' शब्द से रचयिता और लेखक-ग्रन्थस्थ करने वाले—दोनों ही अर्थ निकल सकते हैं। प्रश्न यह है कि निशीथ सूत्र के लेखक ये विशाखगणी कब हुए?

१. बृहत्कल्प भाष्य भाग ६, प्रस्तावना पृ० ३
२. पूरे व्याख्यान के लिये, देखो—बृहत्कल्प भाष्य भाग ६, प्रस्तावना पृ० २

षट्खंडागम की धवला टीका[1] और कसाय पाहुड की जय धवला टीका में[2] श्रुतावतार[3] की परंपरा का जो वर्णन है, उसमें भ० महावीर के बाद तीन केवली और पांच श्रुत केवली-इस प्रकार आठ आचार्यों के बाद आने वाले नवम आचार्य का नाम, जो कि ग्यारह दश पूर्वी में से प्रथम आचार्य थे, विशाखाचार्य दिया हुआ है ! जय धवला में केवली और श्रुत-केवली का समय, सब मिलाकर १६२ वर्ष हैं। अर्थात् वीर निर्वाण के १६२ वर्ष के बाद विशाखाचार्य को आचार्य भद्रबाहु से श्रुत मिला। किन्तु वे सम्पूर्ण श्रुत को धारण न कर सके, केवल ग्यारह अंग और दश पूर्व संपूर्ण, तथा शेष चार पूर्व के अंश को धारण करने वाले हुए।

अन्य किसी प्राचीन विशाखाचार्य का पता नहीं चलता, अतएव यह माना जा सकता है कि निशीथ की प्रशस्ति में जिन विशाखाचार्य का उल्लेख है, वे यही थे। अब प्रश्न यह है कि प्रशस्ति में निशीथ के लेखक रूप से विशाखाचार्य के नाम का उल्लेख रहते हुए भी चूर्णिकार ने निशीथ को गणधरकृत क्यों कहा ? तथा विशाखाचार्य तो दशपूर्वी थे, फिर शीलांक ने निशीथ के रचयिता स्थविर को चतुर्दशपूर्वविद् क्यों कहा ? इसके उत्तर में अभी निश्चयपूर्वक कुछ कहना तो संभव नहीं है। चूर्णिकार और निर्युक्ति या भाष्यकार के समक्ष ये प्रशस्तिगाथाएँ रही होंगी या नहीं, प्रथम तो यही विचारणीय है। निर्युक्ति मे केवल स्थविर शब्द का प्रयोग है। और मुख्य प्रश्न तो यह भी है कि यदि निशीथ के लेखक विशाखाचार्य थे, तो क्या इन प्रशस्ति गाथाओं का निर्माण उन्होंने स्वयं किया या अन्य किसी ने ? स्वयं विशाखाचार्य ने अपने विषय में प्रशस्ति-निर्दिष्ट परिचय दिया हो, यह तो कहना संभव नहीं। और यदि स्वयं विशाखाचार्य ने ही यह प्रशस्ति मूलग्रन्थ के अन्त में दी होती, तो निर्युक्तिकार विशाखाचार्य का उल्लेख न करके केवल 'स्थविर' शब्द से ही उनका उल्लेख क्यों करते ? यहां एक यह भी समाधान हो सकता है कि निर्युक्ति की वह गाथा, जिसमें चूलाओं को स्थविरकृत कहा गया है, केवल चार चूलाओं के संबन्ध में ही है। और वह पांचवीं चूला के निर्माण के पहले की निर्युक्ति गाथा हो सकती है। क्योंकि उसमें स्पष्ट रूप से चूलाओं का निर्माण 'आचार' से ही होने की बात कही गई है। और 'आचार' से तो चार ही चूला का निर्माण हुआ है। पांचवीं चूला का निर्माण तो प्रत्याख्यान पूर्व के आचार नामक वस्तु से हुआ है। अतएव 'आचार' शब्द से केवल आचारांग ही लिया जाए और 'आचार' नामक पूर्वगत 'वस्तु' न लिया जाए। प्रथम चार ही चूलाएँ आचारांग में जोड़ी गईं और बाद में कभी पांचवीं निशीथ चूला जोड़ी गई, यह भी स्वीकृत ही है। ऐसी स्थिति में हो सकता है कि निर्युक्ति गत 'स्थविर' शब्द केवल प्रथम चार चूलाओं के ग्रन्थन से ही संबन्ध रखता हो, अंतिम निशीथ चूला से नहीं। किन्तु यदि यही विचार सही माना जाए, तब भी निर्युक्तिकार ने पांचवीं चूला के निर्माता के विषय में कुछ नहीं कहा—यह तो स्वीकृत करना ही पड़ेगा। ऐसी स्थिति में पुनः प्रश्न यह है कि वे पांचवीं चूला निशीथ के कर्ता का निर्देश क्यों नहीं करते ? अतएव यह कल्पना की जा सकती है कि निर्युक्तिकार के समक्ष ये गाथाएँ नहीं थीं। अथवा यों कहना चाहिए कि ये गाथाएँ स्वयं विशाखा-

१. धवला खंड १, पृ० ६६

२. जयधवला भाग १, पृ० ८५

३. अन्यत्र दी गई श्रुतावतार की परंपरा के लिये, देखो, जय धवला की प्रस्तावना, भाग १, पृ० ४६।

चार्य ने नहीं लिखीं। यदि ये गाथाएँ स्वयं विशाखाचार्य की होतीं, तो चूर्णिकार इन गाथाओं की कुछ-न-कुछ चूर्णि अवश्य करते और बीसवें उद्देश की संस्कृत व्याख्या में भी इसका निर्देश होता। अतएव इस कल्पना के आधार पर यह मानना होगा कि ये गाथाएँ स्वयं विशाखाचार्य की तो नहीं हैं। और यदि ये गाथाएँ स्वयं विशाखाचार्य की ही हैं—ऐसी कल्पना की जाए, तब तो यह भी कल्पना की जा सकती है कि यहाँ 'लिहियं' शब्द का अर्थ 'रचना' नहीं, किन्तु 'पुस्तक लेखन' है। यह हो सकता है कि विशाखाचार्य ने श्रुति-परम्परा से चलते आये निशीथ को प्रथम बार पुस्तकस्थ किया हो। 'पुस्तकस्थ' करने की यह परंपरा, संभव है; स्वयं उन्होंने श्लोकबद्ध करके प्रशस्तिरूप में दी हो, या उनके अन्य किसी शिष्य ने।

यह भी कहा जा सकता है कि यदि भद्रबाहु के अनंतर होने वाले विशाखाचार्य ने ही निशीथ को ग्रन्थस्थ किया हो, तब तो निशीथ का रचना-काल और भी प्राचीन होना चाहिए। इसका प्रमाण यह भी है कि दिगम्बरों के द्वारा मान्य केवल चौदह अंगबाह्य ग्रन्थों की सूची में भी निशीथ का नाम है। अर्थात् यह सिद्ध होता है कि भद्रबाहु के बाद दोनों परंपराएँ जब पृथक् हुईं, उसके पहले ही निशीथ बन चुका था और वह दोनों को समान भाव से मान्य था। और यदि प्रशस्ति गाथाओं के 'लिहियं' शब्द को रचना के अर्थ में माना जाए, तब एक कल्पना यह भी की जा सकती है कि विशाखाचार्य ने ही इसकी रचना की थी। किन्तु संभव है वे श्वेताम्बर आम्नाय से पृथक् परंपरा के आचार्य रहे हों। अतएव आगे चलकर निशीथ के प्रामाण्य के विषय में संदेह खड़ा हुआ हो, या होने की संभावना रही हो, फलतः यही उचित समझा जाने लगा हो कि प्रामाण्य की दृष्टि से उसका संबंध गणधर से ही जोड़ा जाए। इस दृष्टि से निशीथ-चूर्णिकार ने उसका सम्बन्ध गणधर से जोड़ा, और पंचकल्प चूर्णिकार ने भद्रबाहु के साथ, क्योंकि वे भी चतुर्दशपूर्वी थे। अतएव प्रामाण्य की दृष्टि से गणधर से कम तो थे नहीं। इस सब चर्चा का सार इतना तो अवश्य है कि निशीथ के कर्तृत्व के विषय में प्राचीन आचार्यों में भी मतभेद था। तब आज उसके विषय में किसी एक पक्षविशेष के प्रति निर्णय-पूर्वक कुछ कह सकना संभव नहीं है। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वह भद्रबाहु की तो कृति नहीं थी। यदि ऐसा होता तो निशीथ चूर्णिकार के लिए उसको लोप कर देने का कोई कारण नहीं था। निशीथ-चूर्णि और पंचकल्प भाष्य चूर्णि, प्रायः एक ही शताब्दी की कृतियाँ होने का संभव है। ऐसी स्थिति में कर्तृत्व के विषय में जो दो मत हैं, वे संकेत करते हैं कि कुछ ऐसी बात अवश्य थी, जो मतभेद का कारण रही हो। वह बात यह भी हो सकती है कि विशाखाचार्य अन्य परंपरा के रहे हों, तो प्रायश्चित्त जैसे महत्त्व के विषय में उन्हें कैसे प्रमाण माना जाए ? अतएव अन्य छेद ग्रन्थों के रचयिता होने के कारण प्रायश्चित्त में प्रमाणभूत भद्रबाहु के साथ पंचकल्प चूर्णिकार ने, निशीथ का संबन्ध जोड़ दिया हो। यह एक कल्पना ही है। अतएव इसका महत्त्व अभी कल्पना से अधिक न माना जाए। विद्वानों से निवेदन है कि वे इस विषय में विशेष शोध करके नये प्रमाण उपस्थित करें, ताकि निशीथ सूत्र के कर्ता की सही स्थिति का पता लग सके।

निशीथ का समय :

अब तक जो चर्चा हुई है उसके आधार पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि निशीथ की रचना श्वेताम्बर-दिगम्बर मतभेद से या दोनों शाखाओं के पार्थक्य से पहले ही हो चुकी

थी। पट्टावलियों का अध्ययन इस बात की तो साक्षी देता है कि दोनों परंपरा की पट्टावलियाँ आचार्य भद्रबाहु तक तो समान रूप से चलती आती हैं, किन्तु उनके बाद से पृथक् हो जाती हैं। अतएव अधिक संभव यही है कि आचार्य भद्रबाहु के बाद ही दोनों परम्पराओं में पार्थक्य हुआ है। ऐसी स्थिति में निशीथ का, जो कि दोनों परम्परा में मान्य हुआ है, निर्माण संघ-भेद के पहले ही हो चुका होगा, ऐसा माना जा सकता है। आचार्य भद्रबाहुकृत माने जाने वाले व्यवहार[1] सूत्र में तो आचार-प्रकल्प का कई बार उल्लेख भी है[2]। अतएव स्पष्ट है कि आचार्य भद्रबाहु के समक्ष किसी-न-किसी रूप में आचारप्रकल्प-निशीथ रहा ही होगा। यह संभव है कि निशीथ का जो अंतिम रूप आज विद्यमान है उस रूप में वह, भद्रबाहु के समक्ष न भी हो, किन्तु उनके समक्ष वह किसी न किसी रूप में उपस्थित था अवश्य, यह तो मानना ही पड़ेगा। ऐसी स्थिति में निशीथ को आचार्य भद्रबाहु के समय की रचना तो माना ही जा सकता है। इस दृष्टि से वीर-निर्वाण के १५० वर्ष के भीतर ही निशीथ का निर्माण हो चुका था; इसे हम निःसंदिग्ध होकर स्वीकृत कर सकते हैं। एक परंपरा यह भी है कि आचार्य भद्र बाहु ने निशीथ की रचना की है।[3] तब भी इसका समय वीर नि० १५० के बाद तो हो ही नहीं सकता। और एक दूसरी परंपरा यह भी है कि विशाखाचार्य ने इसकी रचना की। यदि उसे भी मान लिया जाय, तब भी विशाखाचार्य, भद्रबाहु के अनन्तर ही हुए हैं, अस्तु यह कहा जा सकता है कि वह ग्रन्थ वीर निर्वाण के १७५ वर्ष के आस पास तो बन ही चुका होगा।

निशीथनिर्युक्ति और उसके कर्त्ता :

प्रस्तुत निशीथ सूत्र की सर्व प्रथम सूत्र-स्पर्शिक निर्युक्ति-व्याख्या बनी है। उसमें सूत्र का सम्बन्ध और प्रयोजन प्रायः बताया गया है, तथा सूत्रगत शब्दों की व्याख्या निक्षेप-पद्धति का आश्रय लेकर की गई है। चूर्णिकार ने सब कहीं भाष्य और निर्युक्ति का पृथक्करण नहीं किया है, अतः संपूर्णभावेन भाष्य से पृथक करके निर्युक्ति गाथाओं का निर्देश कर देना, आज संभव नहीं रहा है। किन्तु स्वयं चूर्णिकारने यत्रतत्र कुछ गाथाओं को निर्युक्तगाथा रूप से निर्दिष्ट किया है। अतः उस पर से यह तो फलित किया ही जा सकता है कि निशीथ भाष्य से निर्युक्ति की गाथाएँ कभी पृथक् रही हैं, जिन पर भाष्यकार ने विस्तृत भाष्य की रचना की। और सब मिलाकर निर्युक्ति गाथाएँ कितनी थीं, यह जानना भी आज कठिन हो गया है। क्योंकि बृहत्कल्प के निर्युक्ति भाष्य[4] की तरह प्रस्तुत में निशीथ के निर्युक्ति और भाष्य भी एक ग्रन्थ

---

१. दशाश्रुतनिर्युक्ति गा० १; व्यवहार भाष्य उद्देश १०, गा० ६०३।

२. व्यव० उद्देश ३, सूत्र ३, १०; उद्देश ५, सू० १५; उद्देश ६, सू० ४-५ इत्यादि।

३. "तेण भगवता आयारपकप्प-दसा-कप्प-ववहारा य नवमपुव्वनीसंदभूता निज्जूढा।"

—पंचकल्प चूर्णि, पत्र १

यह पाठ बृहत्कल्प भाग ६ की प्रस्तावना में उद्धृत है।

४. 'तच्च सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगतमिति सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिं भाष्यं चैको ग्रन्थो जातः।

—बृहत्कल्प टीका पृ० २

रूप हो गए हैं। अर्थात् यह कहा जा सकता है कि भाष्यकार ने निर्युक्ति गाथाओं को भाष्य का ही अंग बना लिया है और निर्युक्ति तथा भाष्य दोनों परस्पर मिलकर एक ग्रन्थ बन गया है। निर्युक्ति ने अपनी पृथक् सत्ता खो दी है।

निशीथ, आचारांग का ही एक अध्ययन है। अतएव आचारांग की निर्युक्ति के कर्ता ही निशीथ की निर्युक्ति के भी कर्ता हैं। आचारांगादि दश निर्युक्तियों के कर्ता द्वितीय भद्रबाहु हैं। अतएव निशीथ निर्युक्ति के कर्ता भी भद्रबाहु को ही मानना चाहिए। उनका समय मुनिराज श्री पुण्य विजय जी ने आन्तर तथा बाह्य प्रमाणों के आधार पर विक्रम की छठी शती स्थिर किया है, और उन्हें चतुर्दश पूर्वविद् भद्रबाहु से पृथक् भी सिद्ध किया है। उनकी यह विचारणा प्रमाणपूत है,[1] अतएव विद्वानों को ग्राह्य हुई है।

जब हम यह कहते हैं कि निर्युक्तियों के कर्त्ता द्वितीय भद्रबाहु हैं, तब एकान्त रूप से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि निर्युक्ति के नाम से जितनी भी गाथाएँ उपलब्ध होती हैं—निशीथ में या अन्यत्र—वे सभी आचार्य भद्राबाहु द्वितीय की ही कृति हैं। क्योंकि आचार्य भद्राबाहु द्वितीय ही एकमात्र निर्युक्तिकार हुए हैं, यह बात नहीं है। उनसे भी पहले प्रथम भद्रबाहु और गोविंदवाचक हो चुके हैं, जो निर्युक्तिकार के नाम से प्रसिद्ध हैं। और वस्तुतः प्राचीनकाल से ही यह परम्परा रही है कि जो भी मूल सूत्र का अनुयोग=अर्थ कथन करता था, वह, संक्षिप्त-शैली से निर्युक्ति पद्धति का आश्रय लेकर ही करता था। यही कारण है कि प्राचीनतम संक्षिप्त व्याख्या का नाम निर्युक्ति दिया गया है। व्याख्याता अपने शिष्यों के समक्ष गाथाबद्ध करके संक्षिप्त व्याख्या करता था और शिष्य उसे याद कर लेते थे। ये ही निर्युक्ति गाथाएँ शिष्य-परंपरा से उत्तरोत्तर चली आती रहीं। प्रथम भद्रबाहु, गोविंद वाचक,[2] अथवा द्वितीय भद्रबाहु ने उन्हीं परंपरा प्राप्त निर्युक्तियों को संकलित तथा व्यवस्थित किया। साथ ही आगमों की व्याख्या करते समय जहाँ आवश्यकता प्रतीत हुई, अपनी ओर से कितनी ही स्वनिर्मित नई गाथाएँ भी, जोड़ दी गई हैं। इसी दृष्टि से ये तत्तत् निर्युक्ति ग्रन्थों के रचयिता कहे जाते हैं। प्राचीनकाल के लेखकों का आग्रह मौलिक रचयिता बनने में उतना नहीं था, जितना कि नई सजावट में था। फलतः वे जहाँ से जो भी उपयुक्त मिलता, उसे अपने ग्रन्थ का अंग बना लेने में संकोच नहीं करते थे। मौलिक की अपेक्षा परंपरा प्राप्त की अधिक महत्ता थी। अतएव अपने पूर्वगामी लेखकों का ऋणस्वीकारोक्ति के रूप में नामोल्लेख किये बिना अथवा उद्धरण आदि की सूचना दिए बिना भी, अपने ग्रन्थ में पूर्व का अधिकांश ले लेते थे—इसमें संकोच की कोई बात न थी। ग्रन्थ-रचनाकार के रूप में अपने को यशस्वी बनाने की उतनी आकांक्षा न थी, जितनी कि इस बात की तमन्ना थी कि व्याख्येय ग्रंथ, किसी भी तरह हो, अध्येता के लिये स्पष्ट हो जाना चाहिए। अतएव आधुनिक अर्थ में उनका यह कार्य साहित्यिक चोरी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उन्हें मौलिकता का आग्रह भी तो नहीं था।

---

१. बृहत्कल्पभाष्य, भाग छठा, प्रस्तावना पृ० १-१७

२. बृहत्कल्प प्रस्तावना, भाग ६, पृ० १८—२०; तथा निशीथ, गा० ३६५६।

प्रस्तुत निशीथभाष्य में निर्युक्ति संमिलित हो गई है—इसका प्रमाण यह है कि कई गाथाओं के सम्बन्ध में चूर्णिकार ने निर्युक्ति गाथा होने का उल्लेख किया है, जैसे कि :

५९२, ६०१, ६१४, ६१९, ६३०, ६३९, ६८५, ७५९, ८१९, ८९५, ९४८, ९७८, ९९९, १०१०, १०२५, १०५४, ११०४, १२८७, १३००, १३१०, १४३५, १४८३, १४९१, १५१५, १५४४, १५९२, १६६६, १८९५, २०६९, २१८१, २१९६, २४३१, २५३३, २६०७, २८८८, २९३४, ३१२३, ३१३८, ३४७२, ३४७९, ३७८८, ४२१०, ४२२०, ४२७५, ४२७६, ४२७८, ४३४०, ४३४४, ४३४९, ४३५३, ४५००, ४५२७, ४८३८, ५००१, ५०९७, ५८२०, ५६३४, ५७२२ ।

निशीथनिर्युक्ति आचार्य भद्रबाहुकृत है, इसका स्पष्ट उल्लेख चूर्णिकारने निम्न रूप में किया है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि निशीथ-निर्युक्तिकार भद्रबाहु ही थे :

'इदानीं उद्देसकस्स उद्देसकेन सह संबंधं वक्तुकामो आचार्यः भद्रबाहुस्वामी निर्युक्तिगाथा-माह—गा० १८९५ ।

यह सम्बन्ध-वाक्य पांचवें उद्देश के प्रारंभ में है ।

कुछ गाथाओं को स्पष्ट रूप से आचार्य भद्रबाहुकृत निर्युक्ति-गाथा कहा है, तो कुछ गाथाओं के लिये केवल इतना ही कहा है कि यह गाथा भद्रबाहुकृत है । इससे भी स्पष्ट होता है कि निशीथनिर्युक्ति भद्रबाहुकृत है । इस प्रकार की कुछ गाथाएँ ये हैं :

७७, २०७, २०८, २९२, ३२५, ४४३, ५४३, ५४५, ७६२, ४३९२, ४४०५, ४४१०, ४७८४, ४८८९, ५०१०, ५६७२, ६१३८, ६४६८, ६५४०, इत्यादि ।

बृहत्कल्प की निर्युक्ति भी भद्रबाहुकृत है । और बृहत्कल्प-निर्युक्ति की कई गाथाएं, प्रस्तुत निशीथ में, प्रायः ज्यों की त्यों ले ली गई हैं । यहां नीचे उन कुछ गाथाओं का निर्देश किया जाता है, जिनके विषय में निशीथचूर्णिकारने तो कुछ परिचय नहीं दिया है, किन्तु बृहत्कल्प के टीकाकारों ने उन्हें निर्युक्तिगाथा कहा है ।

निशीथ-गा०	बृहत्कल्प-गा०
१८८३	५५६६
१६६६	२८७६
३३५१	५२५४
२५०६	६३६३
३०५५	१६५४
३०७४	१६७३
३३६७	२८४६
४००४	३८२७
४०६८-६६	१८५४-५५
४१४२-४३	५२६४-६५
४१०७	१८६५
४२११	५६२०
४८७३	१०१२
५००८	६०६

आचार्यभद्र बाहु ने अपने से पूर्व की कितनी ही प्राचीन निर्युक्ति गाथाओं का समावेश प्रस्तुत निशीथ निर्युक्ति में किया था, इस बात का पता, निशीथ चूर्णि के निम्न उद्धरण से चलता है। गाथा ३२४ के लिये लिखा है—

'ऐसा चिरंतणगाहा। एयाए चिरंतणगाहाए
इमा भद्दबाहुसामिकया चेव वक्खाणगाहा'

— नि० गा० ३२५

उक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि कुछ गाथाएं भद्रबाहु से भी प्राचीन थीं, जिनका समावेश—साथ ही व्याख्या भी, भद्रबाहु ने निशीथ-निर्युक्ति में की है। चिरंतन या पुरातन गाथाओं के नाम से काफी गाथाएं निशीथ निर्युक्ति में संमिलित की गई हैं, ऐसा प्रस्तुत चूर्णिकार के उल्लेख से सिद्ध होता है। उदाहरणार्थ कुछ निशीथ-गाथाएं इस प्रकार हैं: २४६, ३२४, ३८२, ११८७, १२५१ इत्यादि।

कुछ गाथाएं ऐसी भी हैं, जिनके विषय में चूर्णिकार ने पुरातन या चिरंतन जैसा कुछ नहीं कहा है। किन्तु वे गाथाएं बृहत्कल्प भाष्य में उपलब्ध हैं और वहाँ टीकाकारों ने उन्हें 'पुरातन' या 'चिरंतन' कहा है।

निशीथ गा० १६६१ बृहत्कल्प में भी है। एतदर्थ, देखिए, बृहत्कल्प गा० ३७१४। इस गाथा को मलय गिरि ने पुरातन गाथा कहा है—देखो, बृ० गा० ३७१५ की टीका।

नि० गा० १३६८=बृहत्० गा० ४६३२। इसे मलय गिरि ने पुरातन गाथा कहा है।

कभी-कभी ऐसा भी हुआ है कि निशीथ चूर्णि जिसे भद्रबाहुकृत कहती है, उसे मलय गिरि मात्र 'पुरातन' कहते हैं। देखो, निशीथ गा० ७६२=बृ० गा० ३६६४। किन्तु यहाँ चूर्णिकार को ही प्रामाणिक माना जायगा, क्योंकि वे मलयगिरि से प्राचीन हैं।

कुछ गाथाएँ ऐसी भी हैं, जो चूर्णिकार के मत से अन्य आचार्यरचित हैं, जैसे—निशीथ गा० १५६, ५००६ आदि।

उक्त चर्चा के फलस्वरूप हम निम्न परिणामों पर आसानी से पहुँच सकते हैं:

(१) आचार्य भद्र बाहु ने निशीथ सूत्र की निर्युक्ति का संकलन किया।

(२) निशीथ निर्युक्ति में जहाँ स्वयं भद्रबाहु-रचित गाथाएँ हैं, वहाँ अन्य प्राचीन आचार्यों की गाथाएँ भी हैं।

(३) बृहत्कल्प और निशीथ की निर्युक्ति की कई गाथाएँ समान हैं।

(४) प्राचीन गृहीत तथा संकलित गाथाओं की आवश्यकतानुसार यथास्थान भद्रबाहु ने व्याख्या भी की है।

निशीथ भाष्य और उसके कर्ता :

निशीथ सूत्र की निर्युक्ति नामक प्राकृत पद्यमयी व्याख्या के विषय में विचार किया जा चुका है। अब निर्युक्ति की व्याख्या के विषय में विचार प्रस्तुत है। चूर्णिकार के अभिप्राय से निर्युक्ति की प्राकृत पद्यमयी व्याख्या का नाम 'भाष्य' है। अनेक स्थानों पर निर्युक्ति की उक्त व्याख्या को चूर्णिकार ने स्पष्ट रूप से 'भाष्य' कहा है, जैसे—'भाष्यं [illegible]' —निशीथ चूर्णि भाग २, पृ० ९८, 'सभाष्यं पूर्ववत्' यह प्रयोग भी कितनी ही बार हुआ है—वही पृ० ७३, ७४, आदि।

चूर्णिकार ने व्याख्याता को कई बार 'भाष्यकार' कहा है, इस पद से भी निर्युक्ति की टीका का नाम 'भाष्य' सिद्ध होता है। जैसे—निशीथ गा० ३८३, ३६०, ४३५, ११००, १२८४ आदि की चूर्णि। इससे यह तो स्पष्ट ही है कि निर्युक्ति की व्याख्या 'भाष्य' नाम से प्रसिद्ध रही है।

प्रस्तुत भाष्य की, जिसमें निर्युक्तिगाथाएँ भी शामिल हैं, समग्र गाथाओं की संख्या[1] ६७०३ हैं। निशीथ निर्युक्ति के समान भाष्य के विषय में भी कहा जा सकता है कि इन समग्र गाथाओं की रचना किसी एक आचार्य ने नहीं की। परंपरा से प्राप्त प्राचीन गाथाओं का भी यथास्थान भाष्यकार ने उपयोग किया है, और अपनी ओर से भी नवीनगाथाएँ बनाई

१. यह संख्या कम भी हो सकती है, क्योंकि कई गाथाएँ पुनरुक्त हैं।

जोड़ी हैं। बृहत्कल्प भाष्य, और व्यवहार भाष्य, यदि इन दो में उपलब्ध गाथाएँ ही निशीथ भाष्य में से पृथक् कर दी जायँ, तो इतने बड़े ग्रन्थ का चतुर्थांश भी शेष नहीं रहेगा, यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं ; किन्तु वास्तविक तथ्य है। इसकी स्पष्ट प्रतीति निम्न तुलना से वाचकों को हो सकेगी। इससे इतना तो सिद्ध होता ही है कि जैन शास्त्रगत विषयों की सुसंबद्ध व्याख्या करने की परंपरा भाष्यों के समय में सुनिश्चित हो चुकी थी ; जिसका आश्रय लेना व्याख्याता के लिये अनहोनी बात नहीं थी।

निशीथ भाष्य और व्यवहार भाष्य की गाथाओं की अकारादि क्रम से बनी सूची मेरे समक्ष न थी, केवल बृहत्कल्प भाष्य की अकारादि क्रम सूची ही मेरे समक्ष रही है। फिर भी जिन गाथाओं की उक्त तीनों भाष्यों में एकता प्रतीत हुई, उन की सूची नमूने के रूप में यहाँ दी जाती है। इस सूची को अंतिम न माना जाय। इसमें वृद्धि की गुंजाइश है। इससे अभी केवल इतना ही सिद्ध करना अभीष्ट है कि निशीथभाष्य में केवल चतुर्थांश, अथवा उससे भी कुछ कम ही नया अंश है, शेष पूर्वपरंपरा का पुनरावर्तन है। और प्रस्तुत तुलना पर से यह भी सिद्ध हो जायगा कि परंपरा में कुछ विषयों की व्याख्या अमुक प्रकार से ही हुआ करती थी। अतएव जहाँ भी वह विषय आया, वहीं पूर्व परंपरा में उपलब्ध प्रायः समस्त व्याख्या-सामग्री ज्यों की त्यों रखदी जाती थी।

प्रस्तुत तुलना में जहाँ तु० शब्द दिया है वहाँ शब्दशः साम्य नहीं ; किन्तु थोड़ा पाठ-भेद समझना चाहिए।

अन्य संकेत इस प्रकार हैं—नि० भा०=निशीथ भाष्य।

बृ० भा०=बृहत्कल्प भाष्य।

पू०=पूर्वार्ध।

उ०=उत्तरार्ध।

भ० आ०=भगवती आराधना।

कल्पबृहद् भाष्य का तात्पर्य बृहत्कल्प भाष्य में उद्धृत कल्पसूत्र के ही बृहद्भाष्य से है।

व्य० भा०=व्यवहार भाष्य।

नि० भा०	बृ० भा०
११४४-९१	३५२५-७२
११९२	यह गाथा टीका पर से बृ० में फलित होती है। देखो, गा० ३५७२ की टीका।
११९३-१२०४	३५७३-३५८५
१३०७-९	४६०७-९
१३११-१२	४६१२-१३
१३१३	४६१४ चु०
१३१४	५४२ चु०, ४६१६
१३१५	५४३, ४६१७
१३१६-७	५४४, ४६१८, ५४५
१३१८	५४६
१३१९-२५	५४७-५५३
१३२६	५५४, ४६१९
१३२८-३३	५५५-६०
१३३५-४३	५६१-५७९
१३४४	४६२०
१३४५	४६२१ चु०
१३४७	४६२२ चु०
१३४९-८५	४६२३-४९
१३९३-५	३९६२-६४
१३९६-९	४०८०-३
१४०१-८	४०८५-९२
१४०९	३९६५
१४१०-१६	४०९३-९९
१४७२-७७	३१८४-८९
१६२७-८	१५८३, १५७३
१६३१	१५८१
१६३२	१५८४
१६३३, ४१	१५८५-९३
१६४२-४	१६०१-३
१६४५	१६०५

नि० भा०	बृ० भा०
१६४६	१६०४
१६४७	१६०६
१६४८	१६०४
१६४९	१६०७
१६५०-६४	१६०८-२२
१६६६-८९	३६९०-३७१३
१६९०	क० बृहत् भाष्य
१६९१	३७१४
१६९३	३७१६
१६९४	३७१५
१६९५-१७३०	३७१७-५२
१७३१	३७५४
१७३२	३७५३
१७३३-४०	३७५५-६२
१७४१-५४	३७६४-७७
१७५५	३७७९
१७५६	३७७८
१७५७-६३	३७८०-८६
१७६७-८१	३७८७-३८००
१७८२	३८०३
१७८३	३८०४
१७८४	३८०१
१८८३	५५९६
१८८६-८८	५५९७-९९
१८९०	५६००२
१८९१-२	५६०४-५
१८९३	५६०७
१८९४	५६१०
१९४२	१०२९ चु०
१९६८, ३४२६	२८७८, २९७२
१९६९	२८७९, २९७३
१९७०-९४	२९७४-२९९८
१९९५	२९९९ चु०
२०२५-३०	१६७४-७९

नि० भा०	बृ० भा०	नि० भा०	बृ० भा०
२०३१	१६८१	२७२८	५७३८
२०३२	१६८२	२७३७-५१	५५३५-८६
२०३३	१६८०	२७५५-६	५५६०-६१
२०३४-४२	१६८३-६१	२७७५	५७२७, २६६३
२०६७	उपदेशमाला ३६२	२७७६	५७२९, २६६५
२२४२	४६४८	२७७७	५७३०, २६६६
२२४३	४६५०	२७७८	५७३१, २६६७
२२४४	४६५२, ४६६५	२७७९	५७३३, २६६८
२२४६	४६५५	२७८०	५७३४, २६६९
२२४७	४६५७	२७८१	५७३७, २७०१
२२४८	४६५८	२७८२	५७३८, २७०२
२३५१-३	५२५५-६	२७८३	५७३९, २७०४
२३५४	५२५८	२७८४	५७३५, २७०५
२३५६	५२५९	२७८५	५७३६, २७०६
२३५७-९	४१६६-८	२७८६	५७४०, २७०७
२३६१-७०	४७९९-४८०८	२७८७	५७४१, २७०८
२३७२, २४०२	४८०९४८८३	२७८८	५७४२, २७०९
२४४८	२०४८, तु०	२७८९	५७४३, २७१०
२४४९-५४	२०५०-५५	२७९०	५७४४, २७११
२४५६	२०६०	२७९१	५७४५, २७१२
२४५८	२०६१	२७९२	५७४६, २७१४
२४५९-६६	२०६४-७१	२७९३	५७४७, २७१५
२४९८-२५०६	६३८२-९०	२७९४	५७४८, २७१६
२५०८-१२	६३९२-६	२७९५	५७४९, २७१७
२५२९	३५८८	२७९६-२८१६	५७५३, ८३
२५३१	३५८९	२८१७-२८	५७५०-६६
२६१८	६०९०	२८३३	५७६१
२६६५	५३४१	२८३४	५५६७
२६६२-८२	५३४२-५८	२८३५-४८	५५६६-८२
२६८५	५३५९	२८५०-६०	५५८२-९३
२७००-२७०५	५०७३-७८	२८६४	६५३३
२७०७-८	५०८१-२	२८८०, १८८६	५५९५
२७०९	५०८४	२८८१, १८८७	५५९८
२७११	५०८३	२८८२, १८८८	५५९९
२७१८-२१	४७२९-३२	२८८९	५५८५
२७२२-२५	४७३४-३७		

नि० भा०	बृ० भा०	नि० भा०	बृ० भा०
२८८९	५७९०	३२६३	४२९४
२८९०	५७८९	३२६४-७०	४२९५-४३०१
२८९१-३	५७८६,८	३२७१-७५	४३०३-७
२८९४-२९३१	५७९१, ५८२८	३२८०	३९००
२९३४-४५	५८३०-४१	३२९२	३९९९ तु०
२९४६	५८४२ तु०	३३५९	२७६२
२९४८-६५	५८४३-६०	३३६०-१	२७६०-१
२९६६	१८७०	३३६२-९०	२७६३-९१
२९६८-९६	१८११-९८	३३९७-३४०४	२८४९-५६
२९९७-३००७	१९००-१९१०	३४०५	२८५८
३००८	१९१२ तु०	३४०६	२८५७
३००९	१९११	३८०७-४०	२८५९-९२
३०१०-१२	१९१३-१५	३४४१-५७	२८९४-२९१०
३०१३	१९१७	३४५९-६२	२९११-१४
३०१४	१९१६	३४६३-४	२९१६-७
३०१५	१९१८	३४६५	२९१५
३०१६-२६	१९१९-२९	३४६६	२९२०
३०२७	१९३१	३४६७	२९१८
३०२८	१९३२	२४६८	२९१९
३०२९	१९३०	३४६९-७१	२९२१-२३
३०३२	१९३३	३५६१-२	५१६६-७
३०३३-४६	१९३४-४७	३५६३-७६	५१४०-५४
३०४९-८७	१९४८-८६	३५७७	५१५२
३०८९-३१०४	१९८७-२००२	३५७८-९	५१५५-६
३१२४-२७	२७३५-३८	३५८१-९	५१५७-६५
३१२८-३४	२७४०-४६	३५९१-३६००	बृ० में ये गाथाएँ छूट गई हैं, जो वहाँ आवश्यक हैं।
३१३५	२७५७		
३१३६	२७४७		
३१४९-५४	४२८०-८५		
३१५६-७	४२८६-७	३६०१-१९	५१६८-८६
३१८२	५२२५	३६२०	२८२
३२२४-५३	४२४९-९८	३६२१	२७७, २८५
३२५४-५५	४२६७-६८	३६२२-४	५१८७-८९
३२५६	४२७९	३६८१-८७	४९८६-९२
३२५७-६२	४२८७-९२	३६९४-९९	५२१४-१९

नि० भा०	वृ० भा०	नि० भा०	वृ० भा०
३७००	५२२४	४१८२-४	५३०३-४
३७०२	५२३०	४१८५	५३०१
३७५२	४११ तु०	४१८६-९५	५३०५-१४
३७८८-९७	५९९८-६००७	४२१०	५६२१
३७९८-३८००	६०१०-१२	४२११	५६२०
३८१२	२२३ (जीतभाष्य)	४२१२	५६२२
३८१३	११३२	४२१३-४६	५६२३-५६
३८१४-३९७५	जीतभाष्य(२२६ से) और व्यवहार भाष्य (उ० १०, गा० ४०० से) ये गाथाएँ हैं।	४२४१-५	५६६०-४
		४३६९-७२	४५४२-५
		४३७३	४५५०
		४३७४	४५५६
		४५२७	४००१
४००४-१५	३८२७-३८	४७०२	८५२
४०१६	३८४१	४७०३	८५१
४०१७	३८३९	४७०४-६	८५३-५
४०१८-२०	३८४०-३	४७०८-११	८३९-४२
४०५९-६४	१८१६-२१	४७१४-६	८४४-६
४०६५	१८२५	४७१९-२९	८५८-६८
४०६६	१८२२	४७३०-४	८७०-४
४०६७	१८२६	४७३५-५७	८७७-८९९
४०६८	१८२३	४७५८-९	९०१-२
४०६९	१८२४	४७६०	९००
४०७०-९३	१८२७-५०	४७६१-४	९०३-६
४०९४	१८५३	४७६५	९०९
४०९५	१८५१	४७६७	९०७
४०९६	१७५२	४७६८	९०८
४०९७	१८५६	४५६९	९१०
४०९८-९	१८५४-५	४७७०-८८	९११-२९
४१००-४१०३	१८५७, ६०	४७९०-४	९३०-४
४१०४-९	१८६२-६७	४७९५-४८२४	९३६-६५
४११६-७	१८६८-९	४८२५	वृ० भा० में [illegible] नहीं है।
४१४२-६१	५२६४-८३	४८२६-६३	९६६-१००३
४१६२	५२८५	४८६३	[illegible] है।
४१६३	५२८४		
४१६८-८१	५२८७-५३००		

नि० भा०	चू० भा०	नि० भा०	वृ० भा०
४८९४	१०३१	५२२३-७	२५७८ ८२
४८९५-९६	१०३२-३	५२३१-४८	३३१३-३३३०
४८९८-४९००	१०३४-६	५२४९	कल्पबृहद्भाष्य
४९०१-३	१०३८-४०	५२५०-६०	३३३१-४१
४९०४	१०३७	५२६१	३३४२ तु०
४९०५-७	१०४१-३	५२६४	३३४३
४९०८-४८	१०४५-८५	५२६५-६	३३४४-५ तु०
५००१	२७९४ तु०	५२६७-७६	३३४६-५५
५००२-८	६०३-९	५२७८	३३५६
५०१०-२२	६१०-२२	५२७९	३३५७ तु०
५०२४-४९	६२३-४८	५२८०-५	३३५८-६३
५०५०-५२	२७९५-९७	५२८६-८८	३३६५:६७
५०५३	२७९९	५२८९-९२	३३६८-९२ तु०
५०५४	२७९८	५२९३-८	३३७२-७
५०५५-६०	२८००-२८०५	५२९९	३३७८ तु०
५०६१	२८१०	५३००	३३७९
५०६२-५	२८०६-९	५३०१	३३८० तु०
५०६६-९०	२८११-३५	५३०२	३३८१
५०९८-५११४	२४५०-२४६६	५३०३	३३८२ तु०
५११५ पू० ६ उ०	२४६७	५३०४	३३८४
५११७-२३	२४६८-२४७४	५३०५	३३८७
५१२५	२४७६	५३०६	३३८६
५१२६	२४७५	५३०७	३३८५
५१२७-६२	२४७७-२५१२	५३०८	३३८८
५१६३-४	२५१४-५	५३१०-३२	२३८४-२४०६
५१६५	२५१३	५३३३	२४०८ तु०
५१६६-७९	२५१६-२९	५३३४-५१	२४०९-२४२५
५१८०-९४	२५३४-४८	५३५४-७६	३३१३-३४
५१९५	२५५०	५३७८, ५१५८	२५०८
५१९६	२५४९	५३७९, ५१९४	२५४८
५१९९	२५५२	५३८०, २०८	३४३४,३४६२
५२००-१३	१५५३-६६	५३८१, २०९	३४३६
५२१५-६	२५६७-८	५३८२, २१०	३४३७
५२१७-२१	२५७२-७६	५३८३, २११	३४३८
५२२२	२५६९, २५७७	५३८४, २१२	३४३९

नि० भा०	बृ० भा०
५९४३	४८५१
६१९८	७६२
६२८३	११२७
६२८४-८६	११२८-३० तु०
६४६८७-८	व्य० वि० २. गा० २२१-२,
६४६९-३५३५	व्य० वि० २, गा० २२३-२९०
नि० भा०	**व्य० भा० ३**
६५३६	गा० २९१
६५३७-८	व्य० २९४-५
६५४०	व्य० २९९
६५४२	३०३
६५४३-४६	३०४-७
६५४८	३०८
६५५१-६	३११-६
६५५९-७६	३१९-३६
६५७८	३४१
६५७९	३४४

नि० भा०	व्य० भा० ३
६५८०-१	३४५-६
६५८२	३५१
६५८३	३५५
६५८४	३५६-४०३
६५८५	४०४-५
६५८६	३५१
६५८७	३५४
६५८८-६६३१	३५६-४०३
६६३३-४	४०४-५
६६३६-७	४०६-७
६६३९	४०८
६६४०	४०९
६६४१	४११
६६४२-४७	४१२-७
६६४९-५२	४१८-२१
६६५५	४२२
६६५७	४२३
६६५८	४२८
६६६१	४२६

उक्त तुलना से यह तो सिद्ध होता ही है कि निशीथ भाष्य का अधिकांश बृहत्कल्प भाष्य और व्यवहार भाष्य से[1] उद्‌घृत है। उक्त दोनों में निशीथ से उद्धरण नहीं लिया गया, इसका कारण यह है कि स्वयं निशीथ भाष्य में ही 'कल्प' शब्द से कल्पभाष्य का उल्लेख है। अतएव यही मानना संगत है कि कल्प और व्यवहार से ही निशीथ में गाथाएँ ली गई हैं। निशीथ-भाष्य गा० ६३५१ में 'सासणं जहा कप्पे' कह कर कल्पभाष्य की गा० १२६६ आदि की ओर संकेत किया है। इससे यह भी सूचित होता है कि कल्प और व्यवहार के बाद ही निशीथ भाष्य की रचना हुई है। निशीथ भाष्य गा० ४३४ में बृहत्कल्पभाष्यगत प्रथम प्रलंब-सूत्रीय भाष्य की ओर संकेत है। इससे भी कल्प भाष्य का पूर्ववर्तित्व सिद्ध है।

अब निशीथ भाष्य के रचयिता कौन थे, इस प्रश्न पर विचार किया जाता है। भाष्यकार ने स्वयं अपना परिचय, और तो क्या नाम भी, भाष्य के प्रारंभ में या अंत में कहीं नहीं दिया है। चूर्णिकार ने भी आदि या अंत में भाष्यकार के विषय में स्पष्ट निर्देश नहीं किया

---

१. कल्प और व्यवहार भाष्य के कर्ता एक ही हैं। देखो, बृहत्कल्प भाष्य गा० १—'कप्पव्ववहाराणं वक्खाण विहिं पवक्खामि।' और व्यवहारभाष्य की उपसंहारात्मक गाथा—'कप्पव्ववहाराणं भासं'—गा० १४१ उद्देश १०।

है। ऐसी स्थिति में भाष्यकार के विषय में मात्र संभावना ही की जा सकती है। मुनिराज श्री पुण्य विजयजी ने बृहत्कल्प भाष्य की प्रस्तावना (भाग ६, पृ० २२) में लिखा है कि "यद्यपि मेरे पास कोई प्रमाण नहीं है, फिर भी ऐसा लगता है कि कल्प (अर्थात् बृहत्कल्प), व्यवहार और निशीथ लघुभाष्य के प्रणेता श्री संघदास गणि हैं। कल्प-लघुभाष्य और निशीथ लघुभाष्य इन दोनों की गाथाओं के अति साम्य से[1] हम इन दोनों के कर्ता को एक मानने की ओर ही प्रेरित होते हैं।"

मुनिराज श्री पुण्य विजय जी ने बृहत्कल्प लघुभाष्य की गाथा ३२८६,—जो निशीथ में भी उपलब्ध है (गा० ५७५८),—'उदिएणजोहाउलसिद्धसेणो स पत्थिवो णिज्जियसत्तुसेणो' से आने वाले 'सिद्धसेन' शब्द के साथ संघदास गणि के नामान्तर का तो कोई सम्बन्ध नहीं ? ऐसी शंका भी की है। उन्होंने विद्वानों को इस प्रश्न के विषय में विचार करने का आमंत्रण भी दिया है और साथ ही यह भी सूचना दी है कि निशीथ चूर्णि, पंचकल्पचूर्णि, और आवश्यक हारिभद्री वृत्ति आदि में सिद्धसेनक्षमाश्रमण की साक्षी भी दी गई है। तो क्या सिद्धसेन के साथ भाष्यकार का नामान्तर सम्बन्ध है, या शिष्य प्रशिष्यादिरूप सम्बन्ध है— यह सब विद्वानों को विचारणीय है।

इस प्रकार मुनिराज श्री पुण्य विजयजी के अनुसार बृहद्कल्प आदि के भाष्यकार का प्रश्न भी विचारणीय ही है। अतएव यहाँ इस विषय में यत्किंचित् विचार किया जाए, तो अनुचित न होगा।

यह सच है कि चूर्णिकार या स्वयं भाष्य कार ने अपने अपने ग्रन्थों के आदि या अन्त में कहीं भी कुछ भी निर्देश नहीं किया है। तथा यह भी सत्य है कि आचार्य मलयगिरि ने भी भाष्यकार के नाम का निर्देश नहीं किया है। किन्तु बृहत्कल्प भाष्य के टीकाकार क्षेमकीर्ति सूरि ने निम्न शब्दों में स्पष्ट रूप से संघदास को भाष्यकार कहा है। संभव है इस सम्बन्ध में उनके पास किसी परंपरा का कोई सूचना सूत्र रहा हो ?

"कल्पेऽनल्पमनर्घं प्रतिपदमर्पयति योऽर्थनिकुरम्बम् ।
श्रीसंघदास-गणये चिन्तामणये नमस्तस्मै ॥"

"अस्य च स्वल्पग्रन्थमहार्थतया दुःखबोधतया च सकलत्रिलोकीसुभगङ्करणक्षमाश्रमण नामधेया-भिधेयैः श्रीसंघदासगणिपूज्यैः ।"

प्रतिपदमकटितसर्वज्ञाज्ञाविराधनासमुद्भूतप्रभूतप्रत्यपायजालं निपुणचरणकरणपरिपालनोपायगोचर-विचारवाचालं सर्वथा दूषणकरणेनाप्यदूष्यं भाष्यं विरचयांचक्रे।"

उपर्युक्त उल्लेख पर से हम कह सकते हैं कि बृहत्कल्प भाष्यटीकाकार क्षेमकीर्ति ने बृहत्कल्प भाष्य के कर्ता रूप से संघदास गणि का स्पष्ट निर्देश किया है। बृहत्कल्प भाष्य और व्यवहार भाष्य के कर्ता तो निश्चित रूप से एक ही हैं, यह तो कल्प भाष्य के उद्धरण और

---

१. मुनिराज द्वारा सूचित गतिसाम्य यहाँ दी गई तुलना से सिद्ध होता है।

व्यवहार भाष्य के उपसंहार को देखने पर अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है[1]। अतएव बृहद्कल्प और व्यवहार भाष्य के कर्ता रूप से संघदास क्षमा श्रमण का स्पष्ट नाम-निर्देश क्षेम कीर्ति ने हमारे समक्ष उपस्थित किया है, यह मानना चाहिए।

अब प्रश्न यह है कि क्या निशीथ भाष्य के कर्ता भी वे ही हैं, जो बृहत्कल्प और व्यवहार भाष्य के कर्ता हैं? मुनिराज श्री पुण्यविजयजीने तो यही संभावना की है कि उक्त तीनों भाष्य के कर्ता एक ही होने चाहिए"। पूर्वसूचित तुलना को देखते हुए, हमारे मतसे भी इन तीनों के कर्ता एक ही हैं, ऐसा कहना अनुचित नहीं है। अर्थात् यह माना जा सकता है कि कल्प, व्यवहार और निशीथ-इन तीनों के भाष्यकार एक ही हैं।

अब मुनिराज श्री पुण्यविजयजी ने संघदास और सिद्धसेनकी एकता या उन दोनों के सम्बन्ध की जो संभावना की है, उस पर भी विचार किया जाता है। जिस गाथा का उद्धरण देकर संभावना की गई है, वहां 'सिद्धसेन' शब्द मात्र श्लेपसे ही नाम की सूचना दे सकता है। क्योंकि सिद्ध सेन शब्द वस्तुतः वहां सम्प्रति राजा के विशेषण रूप से आया है, नाम रूप से नहीं। बृहत्कल्प में उक्त गाथा प्रथम उद्देशक के अंत में (३२८९) आई है, अतएव श्लेष की संभावना के लिए अवसर हो सकता है। किन्तु निशीथ में यह गाथा किसी उद्देश के अन्त में नहीं, किन्तु १६ वें उद्देशक के २६ वें सूत्र की व्याख्या की अंतिम भाष्य गाथा के रूप में (५७५८) है। अतएव वहां श्लेपकी संभावना कठिन ही है। अधिक संभव तो यही है कि आचार्य को अपने नाम का श्लेष करना इष्ट नहीं है, अन्यथा वे भाष्य के अंत में भी इसी प्रकार का कोई श्लेप अवश्य करते।

हां, तो उक्त गाथा में आचार्य ने अपने नामकी कोई सूचना नहीं दी है, ऐसा माना जा सकता है। फिर भी यह तो विचारणीय है ही कि सिद्धसेन क्षमाश्रमण का निशीथ भाष्य की रचना के साथ कोई संबंध है या नहीं? मुनिराज श्री पुण्यविजयजीने सिद्धसेन क्षमाश्रमण के नामका अनेकवार उल्लेख होने की सूचना की है। उनकी प्रस्तुत सूचना को समक्ष रखकर मैंने निशीथ के उन स्थलों को देखा, जहाँ सिद्धसेन क्षमाश्रमण का नाम आता है, और मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि बृहत्कल्प, व्यवहार और निशीथ भाष्य के कर्ता निशीथ चूर्णिकारके मतसे सिद्धसेन ही हो सकते हैं। क्षेम कीर्ति-निर्दिष्ट संघदास का क्षेमकीर्ति के पूर्ववर्ती भाष्य या चूर्णि में कहीं भी उल्लेख नहीं है, किन्तु सिद्धसेन का उल्लेख तो चूर्णिकार ने वारवार किया है। यद्यपि मैं यह भी कह ही चुका हूँ कि चूर्णिकार ने आदि या अंत में भाष्य कारके नाम का उल्लेख नहीं किया है तथापि चूर्णि के मध्य में यत्र तत्र जो अनेक उल्लेख हैं, वे इस बात को सिद्ध कर रहे हैं कि चूर्णिकारने भाष्य कार के रूप से सिद्धसेन को ही माना है। अब हम उन उल्लेखों की जांच करेंगे और अपने मतकी पुष्टि किस प्रकार होती है, यह देखेंगे।

(१) चूर्णिकारने निशीथ गा० २०५ को द्वार गाथा लिखा है। यह गाथा निर्युक्ति-गाथा होनी चाहिए। उक्त गाथागत प्रथम द्वार के विषय में चूर्णि का उल्लेख है—'सागणिए त्ति दारं। अस्य सिद्धसेनाचार्यो व्याख्यां करोति'—भाष्य गा० २०६ का उत्थान। गा० २०७ के

---

१. वस्तुतः ये दोनों भाष्य एक ग्रन्थ ही है।

उत्थान में निम्न उल्लेख है—'इमा पुण सागारिय-निक्खित्तदाराणं दोण्हवि भद्दबाहुसामिकता प्राय-श्चित्त व्याख्यान गाथा।' गा० २०८ के उत्थान में चूर्णि है—'इयाणिं संघट्टणे त्ति दारं। एतस्स भद्द-बाहुसामिकता वक्खाण गाहा'।' उक्त २०८वीं गाथा में भद्रबाहु ने नौ अवान्तर द्वार बताए हैं। इन्हीं नव अवान्तर द्वारों की व्याख्या क्रमशः सिद्धसेन ने गा० २०९ से २११ तक की है—इस बात को चूर्णिकारने इन शब्दों में कहा है—एतेषां (अवान्तर-नवद्वाराणां) सिद्धसेनाचार्यो व्याख्यां करोति'—गा० २०९ का उत्थान। गा० २०५ से गा० २०९ तक के उत्थान सम्बन्धी उक्त उल्लेखों के आधार पर हम निम्न परिणामों पर पहुंच सकते हैं—

(अ) स्वयं भद्रबाहु ने भी निर्युक्ति में कहीं-कहीं द्वारों का स्पष्टीकरण किया है। यथा मूलद्वार गाथा २०५ को यदि प्राचीन निर्युक्त गाथा मानी जाए तो उसका स्पष्टीकरण भद्रबाहु ने किया है।

(ब) भद्रबाहु कृत व्याख्या का स्पष्टीकरण सिद्धसेनाचार्य ने किया है। इससे स्पष्ट है कि भद्रबाहु के भी टीकाकार अर्थात् भाष्यकार सिद्धसेनाचार्य हैं।

(क) निशीथ गा० २०८, २०९, २१०, २११, २१२, २१४ इसी क्रम से बृहत्कल्प भाष्य में भी हैं। देखिए, गाथा ३४३४, ३४३६-९, और ३४४०। अतएव वहां भी निर्युक्तिकार और भाष्यकार क्रमशः भद्रबाहु और सिद्धसेन को ही माना जा सकता है।

प्रसंगवश एकबात और भी यहां कह देना आवश्यक है कि आचार्य हरिभद्र ने आवश्यक-निर्युक्ति के व्याख्या-प्रसंग में कुछ गाथाओं को 'मूल भाष्य' की संज्ञा दी है। प्रस्तुत उल्लेख का तात्पर्य यह लगता है कि हरिभद्र ने आवश्यक के ही जिनभद्रकृत विशेष भाष्य की गाथाओं से भद्रबाहुकृत व्याख्या-गाथाओं का पार्थक्य निर्दिष्ट करने के लिये 'मूलभाष्य' शब्द का प्रयोग किया है। यह तात्पर्य ठीक है या नहीं, यह अभी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता; किन्तु प्रस्तुत में गाथागत एक ही द्वार की स्वयं भद्रबाहुकृत व्याख्या और सिद्धसेन-कृत व्याख्या उप-लब्ध हो रही है। अतएव अन्यत्र भी ऐसे प्रसंग में यदि मूलकारकी व्याख्या और अपरकीय व्याख्या का पार्थक्य निर्दिष्ट करने के लिये 'मूल भाष्य' शब्द का प्रयोग किया जाए तो इसमें अनौचित्य नहीं है। इतना तो कहा ही जा सकता है कि जब कि जिनभद्र से पूर्व भद्रबाहु से भिन्न अन्य किसी आवश्यक के भाष्यकार का पता नहीं लगता, तब मूल भाष्यकार भद्रबाहु ही हों तो कुछ असंभव नहीं।

(२) गा० २९२ में मृषावाद की चर्चा है। इस गाथा को चूर्णि में भद्रबाहुकृत व्याख्यान गाथा कहा है—'भावमुसावातस्स भद्दबाहुसामिकता वक्खाणगाहा।'

इस गाथा के पूर्वार्ध की व्याख्या को सिद्धसेन आचार्य कृत कहा है—'पुव्वद्धस्स इमं सिद्धसेणायरिओ वक्खाणं करेति'—गा० २९३ का उत्थान। इससे सिद्ध होता है कि भाष्यकार सिद्धसेन थे।

(३) गा० २९८ और २९९-ये दोनों गाथाएँ द्वार-गाथाएँ हैं, ऐसा चूर्णिकार ने कहा है। अर्थात् ये निर्युक्ति गाथाएँ हैं। इन्हीं दो गाथागत द्वारों की व्याख्या गा० ३०० से ३१६ त[illegible]

है। ये सभी गाथाएं बृहत्कल्प में भी हैं—गा० ६०६६—८७। निशीथ-चूर्णि में इन गाथाओं के व्याख्या-प्रसंग में कहा गया है कि व्याख्याकार सिद्धसेन हैं—'अस्यैवार्थस्य स्पष्टतरं व्याख्यानं सिद्धसेनाचार्यः, करोति'– गा० ३०३ का उत्थान। और ३०४ का उत्थान भी ऐसा ही है। इससे फलित होता है कि बृहत्कल्प और निशीथ के भाष्यकार सिद्धसेन हैं।

(४) गा० २४९ को चूर्णि कारने 'चिरंतन' गाथा कहा है और उसकी व्याख्या करने वाले स्पष्ट रूप से सिद्धसेनाचार्य निर्दिष्ट हैं—देखो गा० २५० की चूर्णि—'एतस्स चिरंतनगाहापायस्स सिद्धसेनाचार्यः स्पष्टेनाभिधानेनार्थमभिधत्ते'। यह उल्लेख इस बात की ओर संकेत करता है कि निर्युक्तिकार भद्रबाहुने प्राचीन गाथाओं का भी निर्युक्ति में संग्रह किया था, और भाष्यकार सिद्धसेन हैं।

(५) गा० ४९९ से शुरू होने वाला प्रकरण बृहत्कल्पभाष्य से (गा० ४८९५) ही लिया गया है। उक्त प्रकरण की ५०४ वीं गाथा के उत्थान में लिखा है—'इममेवार्थं सिद्धसेनाचार्यो वक्तुकाम आह।' इससे भी सिद्ध होता है कि बृहत्कल्प और निशीथ भाष्य के कर्ता सिद्धसेन हैं।

(६) गा० ५१८ से शुरू होने वाला प्रकरण भी बृहत्कल्प से लिया गया है। देखिए-निशीथ गाथा ५१८ से ५४९ और बृहत्कल्प भाष्य गा० २५८४ से २६१५। इस प्रकरण की ५४० से ५४४ तक की गाथाओं को चूर्णिकारने सिद्धसेनाचार्यकृत बताया है—देखिए, गा० ५४५ की उत्थान चूर्णि। चूर्णिकार और मलयगिरि दोनों का मत है कि इन गाथाओं में जो विस्तार से कहा गया है वही संक्षेप में भद्रबाहुने कहा है—देखिए, नि० गा० ५४५ की चूर्णि और बृह० गा० २६११ की टीका का उत्थान। स्पष्ट है कि निशीथ और बृहत्कल्प के भाष्यकार सिद्धसेन हैं।

(७) गा० ४०६६—६७ की चूर्णि में भद्रबाहुकृत माना है और उन्हीं गाथाओं के अर्थ को सिद्धसेन स्फुट करते हैं, ऐसा निर्देश भी चूर्णि में किया है—'भद्दबाहुकया गाथा' और 'भद्रबाहुकृत-गाथया ग्रहणं निर्दिश्यते'—निशीथ चूर्णि गा० ४०६६ और ४०६७। तदनंतर लिखा है—'एसेवऽत्थो सिद्धसेणखमासमणेण फुडतरो भन्नति'—गा० ४०६८ की निशीथ चूर्णि। जिस प्रकरण में ये गाथाएँ हैं वह समग्र प्रकरण बृहत्कल्प से ही निशीथ में लिया गया है—देखो, निशीथ गा० ४०५९ से ४१०९ और बृह० गा० १८१६—१८६७। मलयगिरि ने बृह० गा० १८२६—नि० गा० ४०६७ को निर्युक्ति कहा है और निशीथ चूर्णि में उसे भद्रबाहु कृत माना गया है। उक्त गाथा की व्याख्या-गाथा को अर्थात् बृ० गा० १८२७—निशीथ गा० ४०७० को भाष्यकारीय कहा गया है, जब कि चूर्णिकार के मत से वह व्याख्या सिद्धसेनकृत है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भद्रबाहुकृत निर्युक्ति (बृहत्कल्प और निशीथ निर्युक्ति) की व्याख्या भाष्यकार सिद्धसेनने की है।

(८) निशीथ गा० १६६१, बृहत्कल्प में भी है—बृ० गाथा ३७१५। गा० १६६१ की व्याख्यारूप नि० गाथा १६६४=बृ० गा० ३७१५ को चूर्णिकार स्पष्ट रूप से सिद्धसेन कृत बताते हैं। ये गाथाएं जिस प्रकरण में हैं, वह समग्र प्रकरण निशीथ में बृहत्कल्प भाष्य से लिया गया है। देखिए, निशीथ भाष्य गा० १६६६-१७८४ और बृ० भा० गा० ३६९०-३८०४। उक्त प्रकरण पर से यही फलित होता है कि भाष्यकार सिद्धसेन हैं।

(९) निशीथ गा० ५४५९ के उत्तरार्ध को और साथ ही गा० ५४६० को वृहत्कल्प भाष्य में (गा० ५३६३-५३६४) निर्युक्ति कहा गया है। और उक्त निर्युक्ति गाथाओं की भाष्य सम्बन्धी व्याख्या गाथाओं के विषय में निशीथचूर्णि के शब्द इस प्रकार हैं—'सिद्धसेण-खमासमणो वक्खाणेति' गा० ५४६३ का उत्थान। यह व्याख्यान-गाथा वृहत्कल्प भाष्य में भी है—गा० ५३६८। इस प्रकार स्पष्ट है कि सिद्ध सेन क्षमाश्रमण भाष्यकार हैं।

(१०) गा० ५७१४ की चूर्णिमें गाथा ५७११ को भद्रवाहुकृत कहा है और सिद्धसेन खमासमणने इसी की व्याख्या को फुडतर करने के लिये उक्त गाथाएँ वनाई हैं, ऐसा उल्लेख है—'जे भणिया भद्दवाहुकयाए गाहाए सच्छन्दगमणाइया तिण्णि पगारा ते चेव सिद्धसेणखमासमणेहि फुडतरा करेंतेहि इमे भणिता'—गा० ५७१४ की उत्थान-सम्बन्धी निशीथ चूर्णि। यह समग्र प्रकरण वृहत्कल्प से लिया गया है, और प्रस्तुत गाथा को 'निर्युक्ति गाथा' कहा है। देखिए, निशीथ गा० ५६२५-५७२६ और वृह० गा० ३०४१-३१३८। स्पष्ट है कि भाष्यकार सिद्धसेन हैं।

(११) गा० ६१३८, चूर्णि के अनुसार भद्रवाहुकृत निर्युक्ति गाथा है। उक्त गाथा में निर्दिष्ट अतिदेश का भाष्य सिद्धसेन करते हैं, ऐसा उल्लेख चूर्णि में है—

'एइए अतिदेसे कए वि सिद्धसेणखमासमणो पुव्वद्धस्स भणियं अतिदेसं वक्खाणेति।'
—निशीथ चूर्णि, गा० ६१३९

उपर्युक्त सभी उल्लेखों के आधार पर यह निश्चय किया जा सकता है कि निशीथ भाष्य तो निर्विवाद रूप से सिद्धसेन क्षमाश्रमणकृत है। और क्योंकि वृहत्कल्प और व्यवहार के कर्ता भी वे ही हैं, जिन्होंने निशीथ भाष्य की संकलना की है, अतएव कल्प, व्यवहार और निशीथ इन तीनों के भाष्यकर्ता सिद्धसेन हैं—ऐसा माना जा सकता है।

अब तक की भाष्यकार-सम्वन्धी समग्र चर्चा पर एक प्रश्न खड़ा हुआ है। वह यह कि क्षेम कीर्ति ने भाष्यकार के रूप में सिद्धसेन का नाम न देकर संघदास का नाम क्यों दिया? इसका उचित स्पष्टीकरण अभी तो लक्ष्य में नही है। संभव है, भविष्य में कुछ सूत्र मिल सकें और उक्त प्रश्न का समाधान हो सके।

अब प्रश्न यह हैं कि ये सिद्धसेन क्षमाश्रमण कौन हैं और कव हुए हैं? सन्मति-तर्क के कर्ता सुप्रसिद्ध सिद्धसेन दिवाकर से तो ये क्षमाश्रमण सिद्धसेन भिन्न ही हैं। उक्त निर्णय निम्न प्रमाणों पर आधारित है।

(१) दोनों की पदवी भिन्न है। एक दिवाकर हैं, तो दूसरे क्षमाश्रमण।

(२) सन्मति तर्क सिद्धसेन दिवाकर का ग्रन्थ है, और उसके उद्धरण नय चक्र में हैं। और नयचक्र-कर्ता मल्लवादी का समय विक्रम ४१४ के आसपास है। जव कि प्रस्तुत भाष्य के कर्ता सिद्धसेन क्षमा श्रमण इतने प्राचीन नहीं हैं।

(३) निशीथ भाष्य की चूर्णि, यदि भाष्य के सही अभिप्राय को व्यक्त करती है, तो यह भी माना जा सकता है कि भाष्यकार के समक्ष सन्मति तर्क था और वे अश्वकर्ता सिद्धसेन से भी परिचित थे—देखिए, निशीथ गा० ४८६, १८०४।

(४) भाष्यकार के समक्ष आचारांग-निर्युक्ति, ओघनिर्युक्त, पिंडनिर्युक्ति, आवश्यक-निर्युक्ति आदि ग्रन्थ थे, जो द्वितीय भद्रबाहु के द्वारा ग्रथित हैं—अतएव सिद्धसेन दिवाकर से, जो द्वितीय भद्रबाहु के पूर्वभावी हैं, भाष्यकार सिद्धसेन भिन्न होने चाहिएँ।

आचारांग-निर्युक्ति, जो द्वितीय भद्रबाहु की कृति है, उस पर तो निशीथ भाष्य लिखा ही गया है; अतएव इसके विषय में कुछ संदेह नहीं है। आवश्यक निर्युक्ति भी भाष्यकार के समक्ष थी, इसका प्रमाण निशीथ भाष्य गा० ४० है, जिसमें 'उदाहरणा जहा हेट्ठा' कहकर आवश्यक-निर्युक्ति का निर्देश किया गया है—देखो, निशीथ चूर्णि गा० ४०—'जहा हेट्ठा आवस्सगे तहा दट्ठव्वा।' पिंडनिर्युक्ति का तो शब्दतः निर्देश गा० ४५६ में भाष्यकार ने स्वयं किया है, और चूर्णिकारने भी पिंडनिर्युक्ति पर से विवरण जान लेने को कहा है—नि० चू० गा० ४५७। चूर्णिकारने गा० २४५४ के 'जो वण्णितो पुव्विं' अंश की व्याख्या में ओघनिर्युक्ति का उल्लेख किया है—'पुव्वत्ति ओहनिज्जुत्तीए'। इसी प्रकार गा० ४५७६ में भी 'पुव्वभणिते' का तात्पर्य चूर्णिकारने 'पुव्वं भणितो ओहनिज्जुत्तीए' लिखा है। ऐसा ही उल्लेख गा० ४६३० में भी है।

(५) निशीथ चूर्णि में कहीं सिद्धसेन आचार्य तो कहीं सिद्धसेन क्षमाश्रमण इस प्रकार दोनों रूप से नाम आते हैं। किन्तु कहीं भी सिद्धसेन के साथ 'दिवाकर' पदका उल्लेख नहीं किया गया है, अतएव भाष्यकार सिद्धसेन, दिवाकर सिद्धसेन से भिन्न हैं।

अब इस प्रश्न पर विचार करें कि सिद्धसेन क्षमाश्रमण कब हुए?

जीत कल्प भाष्य की रचना जिनभद्र क्षमाश्रमण ने की है। और उसकी चूर्णि के कर्ता सिद्धसेन हैं। मेरे विचार से ये सिद्धसेन ही प्रस्तुत सिद्धसेन क्षमाश्रमण हैं। चूर्णिकार सिद्धसेन आचार्य जिनभद्र के साक्षात् शिष्य हैं, ऐसा इस लिये प्रतीत होता है कि उन्होंने चूर्णि के प्रारंभ में जिनभद्र की स्तुति की है, और स्तुति-वर्णन की शैली पर से झलक रहा है कि वे स्तुति के समय विद्यमान थे। प्रारंभिक मंगल में सर्वप्रथम भगवान् महावीर को नमस्कार किया है, तदनंतर एकादश गणधर और जंबू प्रभवादि को, जो समस्त श्रुतधर थे। तदनंतर दश-नव पूर्वधर और अतिशयशील शेष श्रुतज्ञानियों को नमस्कार किया है। इसके अनंतर प्रथम प्रवचन को नमस्कार करके पश्चात् जिनभद्र क्षमाश्रमण को नमस्कार किया है। क्षमा श्रमण जी की प्रशस्ति में ६ गाथाओं की रचना की है और वर्तमान कालका प्रयोग किया है; यह खास तौर पर ध्यान देने जैसी बात है। 'मुणिवरा सेवन्ति सया' गा० ६। 'दससु वि दिसासु जस्स य अणुओगो भमई'—गा० ७। इससे प्रतीत होता है कि सिद्धसेन आचार्य, जिनभद्र क्षमा श्रमण के साक्षात् शिष्य हों, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

जीत कल्प पर की अपनी चूर्णि में उन्होंने निशीथ की गाथाएँ 'तं जहा' कह करके दी हैं—नि० गा० ४६३ ४८४ और ४८५, जो पृ० ३ में उद्धृत हैं।

मुनिराज श्री पुण्य विजयजी ने जिनभद्र को व्यवहार-भाष्यकार के बाद का माना है। और प्रमाणस्वरूप विशेषणवती की गाथा ३४ गत 'ववहार' शब्द को उपस्थित करते हुए कहा है कि स्वयं जिनभद्र, प्रस्तुत में, 'व्यवहार' शब्द से व्यवहार भाष्यगत गाथा १९२ (उद्देश ६)

की ओर संकेत करते हैं[1]। यदि सिद्धसेन व्यवहार-भाष्य के कर्ता माने जायँ तो इस प्रमाण के आधार से उन्हें जिनभद्र से पूर्व माना जा सकता है, पश्चात्कालीन या उनके शिष्य रूप तो नहीं माना जा सकता। अस्तु सिद्धसेन जिनभद्र के शिष्य कैसे हुए? यह प्रश्न यहां सहज ही उपस्थित हो सकता है। किन्तु इसका स्पष्टीकरण यह किया जा सकता है कि स्वयं बृहत्कल्प और निशीथ भाष्य में विशेषावश्यक भाष्य की अनेक गाथाएँ उद्धृत हैं। देखिए, निशीथ गा० ४८२३, ४८२४, ४८२५ विशेषावश्यक की क्रमशः गा० १४१, १४२, १४३ हैं। विशेषावश्यक की गा० १४१—१४२ बृहत्कल्प में भी है—गा० ९६४, ९६५। हां तो जीतकल्प चूर्णि की प्रशस्ति के आधार पर यदि सिद्धसेन को जिन भद्र का शिष्य माना जाए तब तो जिनभद्र के उक्त गाथा-गत 'ववहार' शब्द का अर्थ 'व्यवहारभाष्य' न लेकर 'व्यवहार निर्युक्ति' लेना होगा। जिनभद्र ने केवल 'ववहार' शब्द का ही प्रयोग किया है, 'भाष्य' का नहीं। और बृहत्कल्प आदि के समान व्यवहार भाष्य में भी व्यवहार निर्युक्ति और भाष्य दोनों एक ग्रन्थरूपेण संमिलित हो गए हैं, अतएव चर्चास्पद गाथा को एकान्त भाष्य की ही मानने में कोई प्रमाण नहीं है। अथवा कुछ देर के लिए यदि यही मान लिया जाए कि जिनभद्र को भाष्य ही अभिप्रेत है, निर्युक्ति नहीं; तब भी प्रस्तुत असंगति का निवारण यों हो सकता है कि सिद्धसेन को जिनभद्र का साक्षात् शिष्य न मानकर उनका समकालीन ही माना जाय। ऐसी स्थिति में सिद्धसेन के व्यवहार भाष्य को जिनभद्र देख सकें, तो यह असंभव नहीं।

यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि मैंने ऊपर में विशेषावश्यक भाष्य की जिन गाथाओं को निशीथ भाष्य में उद्धृत होने की बात कही है, उन गाथाओं के पूर्व में आने वाली विशेषावश्यक भाष्य की गा० १४० के अन्त में 'जओ सुएऽभिहियं' ये शब्द हैं। इसका अर्थ कोई यह कर सकता है कि गा० १४१ को विशेषावश्यक के कर्ता उद्धृत कर रहे हैं। किन्तु 'गा० १४१ का वक्तव्यांश श्रुत में कहा गया है, न कि स्वयं वह गाथा'—ऐसा मान कर ही मैंने प्रस्तुत में १४१, १४२, १४३ गाथाओं को विशेषावश्यक से निशीथ में उद्धृत माना है।

ऐसी स्थिति में जिनभद्र और भाष्यकार सिद्धसेन का पौर्वापर्य अंतिम रूप में निश्चित हो गया है, यह नहीं कहा जा सकता। मात्र संभावना ही की जा सकती है। उक्त प्रश्न को अभी विचार-कोटि में ही रखा जाना, इसलिये भी आवश्यक है कि जिनभद्र के जीत कल्प भाष्य और सिद्ध सेन के निशीथभाष्य तथा व्यवहार भाष्य की संल्लेखना-विषयक अधिकांश गाथाएँ एक जैसी ही हैं। तुलना के लिये, देखिए—निशीथ गा० ३८१४ से, व्यवहार भाष्य उ० १०, गा० ४०० से और जीत कल्प भाष्य की गा० ३२९ से। ये गाथाएँ किसी एकने अपने ग्रन्थ में दूसरे से ली हैं या दोनों ने ही किसी तीसरे से? यह प्रश्न विचारणीय है।

भाष्य कार ने किस देश में रहकर भाष्य लिखा? इस प्रश्न का उत्तर हमें गा० २९२७ से मिल सकता है। उसमें 'चक्के थुभाइया' शब्द है। चूर्णिकार ने स्पष्टीकरण किया है कि उत्तरापथ में धर्मचक्र है, मथुरा में देवनिर्मित स्तूप है, कोसल में जीवंत प्रतिमा हैं, अथवा तीर्थंकारों की जन्म-भूमि है, इत्यादि मान कर उन देशों में यात्रा न करे। इस पर से ध्वनित

---

१. बृहत्कल्प भाग—६, प्रस्तावना पृ० २२।

होता है कि उक्त प्रदेशों में भाष्य नहीं लिखा गया। संभवतः वह पश्चिम भारत में लिखा गया हो। यदि पश्चिम भारत का भी संकोच करें तो कहना होगा कि प्रस्तुत भाष्य की रचना सौराष्ट्र में हुई होगी। क्योंकि वाहर से आने वाले साधु को पूछे जाने वाले देश-सम्बन्धी प्रश्न में मालव और मगध का प्रश्न है[1]। मालव या मगध में वैठकर कोई यह नहीं पूछता कि आप मालव से आ रहे हैं या मगध से? अतएव अधिक संभव तो यही है कि निशीथ भाष्य की रचना सौराष्ट्र में हुई होगी।

और यह भी एक प्रमाण है कि जो मुद्राओं की चर्चा (गा० ६५७ से) भाष्यकार ने की है, उससे भी यह सिद्ध होता कि वे संभवतः सौराष्ट्र में वैठकर भाष्य लिख रहे थे।

निशीथ विशेष-चूर्णि और उसके कर्ता :

प्रस्तुत ग्रन्थ में निशीथ भाष्य की जो प्राकृत गद्यमयी व्याख्या मुद्रित है, उसका नाम विशेष चूर्णि है। यह चूर्णिकार की निम्न प्रतिज्ञा से फलित होता है :—

"पुव्वायरियकयं चिय अहंपि तं चेव उ विसेसा ॥३॥"

—नि० चू०, पृ० १.

और अंत में तो और भी स्पष्ट रूप से इस वात को कहा है—

"तेण कएसा चुण्णी विसेसनामा निसीहस्स।"

—नि० चू० भा० ४ पृ० ११.

प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ, सप्तम और अष्टम, दशम, द्वादश, १३, १४, १५, १७, १८, १९, २० उद्देशक के अंत में 'विसेस-निसीह चुण्णीए' तथा ९. ११. १६, उद्देशक के अन्त में 'निसीह विसेस चुण्णीए' लिखा है। इससे भी प्रस्तुत चूर्णि का नाम विशेष-चूर्णि सिद्ध होता है।

जिस प्रकार आचार्य जिनभद्र का भाष्य आवश्यक की विशेष वातों का विवरण करता है, फलतः वह विशेषावश्यक भाष्य है, उसी प्रकार निशीथ भाष्य की विशेष वातों का विवरण करने वाली प्रस्तुत चूर्णि भी विशेष चूर्णि है। अर्थात् यह भी फलित होता है कि प्रस्तुत चूर्णि से पूर्व भी अन्य विवरण लिखे जा चुके थे; किन्तु जिन वातों का समावेश उन विवरणों में नहीं किया गया था उनका समावेश प्रस्तुत चूर्णि में किया गया है—यही इसकी विशेषता है। अन्याचार्य-कृत विवरण की सूचना तो स्वयं चूर्णिकार ने भी दी है कि—'पुव्वायरियकयं चिय' 'यद्यपि पूर्वाचार्यों ने विवरण किया है, तथापि मैं करता हूँ'।

चूर्णि को मैंने प्राकृतमयी गद्य व्याख्या कहा है, इसका अर्थ इतना ही है कि अधिकांश इसमें प्राकृत ही है। कहीं-कहीं संस्कृत के शब्दरूप ज्यों के त्यों उपलब्ध होते हैं, फिर भी लेखक का झुकाव प्राकृत लिखने की ओर ही रहा है। कहीं-कहीं अभ्यासवश, अथवा जो विषय अन्यत्र से लिया गया उसकी मूल भाषा संस्कृत होने से ज्यों के त्यों संस्कृत शब्द रह गये हैं,

---

१. नि० भा० गा० ३३४७

किन्तु लेखक प्राकृत लिखने के लिये प्रवृत्त है—यह स्पष्ट है। इसकी भाषा का अध्ययन एक स्वतन्त्र विषय हो सकता है, जो भाषाशास्त्रियों के लिये एक नई वस्तु होगा। प्रसंगाभावतया यहाँ इस विषय में कुछ नहीं लिखना है।

निशीथ चूर्णि एक विशालकाय ग्रन्थ है। प्रायः सभी गाथाओं का विवरण विस्तार से देने का प्रयत्न है। स्वयं भाष्य ही विषयवैविध्य की दृष्टि से एक बहुत बड़ा भंडार है। और भाष्य का विवरण होने के नाते चूर्णि तो और भी अधिक महत्वपूर्ण विषयों से खचित है—यह असंदिग्ध है। चूर्णिगत महत्त्व के विषयों का परिचय यथास्थान आगे कराया जाएगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि चूर्णिकार ने अपने समय के युग का प्रतिविम्व शब्द-बद्ध कर दिया है। उस काल में मानव-बुद्धि-जिन विषयों का विचार करती थी और उस काल का मानव जिस परिस्थिति से गुजर रहा था, उसका तादृश चित्र प्रस्तुत ग्रन्थ में उपस्थित हुआ है, यह करना अतिशयोक्ति नहीं।

निशीथ चूर्णि के कर्ता के विषय में निम्न बातें चूर्णि से प्राप्त होती हैं :—

(१) निशीथ विशेष चूर्णि के कर्ता ने पीठिका के प्रारंभ में 'पज्जुण्ण खमासमण' को नमस्कार किया है और उन्हें 'अत्थदायि' अर्थात् निशीथ शास्त्र के अर्थ का बताने वाला कहा है, किन्तु अपना नाम नहीं दिया। पट्टावली में कहीं भी 'पज्जुण्ण खमासमण' का पता नहीं लगता। हाँ इतना निश्चित है कि ये प्रद्युम्नक्षमाश्रमण, सन्मति टीकाकार अभय देव के गुरु प्रद्युम्न से तो भिन्न ही हैं। क्योंकि दोनों के समय में पर्याप्त व्यवधान है। फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि चूर्णिकार के उपाध्याय प्रद्युम्न क्षमा श्रमण थे।

(२) १३ वें उद्देश के अंत में निम्न गाथा चूर्णिकारने दी है :—

> संकरजडमउडविभूसणस्स तण्णामसरिसणामस्स।
> तस्स सुतेणेस कता विसेसचुण्णी णिसीहस्स॥

प्रस्तुत गाथा में अपने पिता का नाम सूचित किया है। 'शंकर-जटारूप मुकुट के विभूषण रूप' और 'उसके सदृश नाम को धारण करने वाले' इन दो पदों में चूर्णिकार के पिता का नाम छिपा हुआ है। प्रस्तुत में शंकर के मुकुट का भूषण यदि 'सर्प' लिया जाए तो 'नाग'; यदि 'चन्द्र' लिया जाय तो 'शशी' या 'चन्द्र' फलित होता है। स्पष्ट निर्णय नहीं होता।

(३) १५ वें उद्देश के अंत में निम्न गाथा है :—

> रविकरमभिधाणऽक्खरसत्तम वग्गंत-अक्खरजुएणं।
> णामं जस्सित्थिए सुतेण तस्से कया चुण्णी॥

इसमें चूर्णिकार ने अपनी माता का नाम सूचित किया है।

(४) १६ वें उद्देश के अन्त में निम्न गाथा चूर्णिकारने दी है :

> देहडो सीह थोरा य ततो जेट्ठा सहोयरा।
> कणिट्ठा देउलो णण्णो सत्तमो य तिइज्जगो।
> एतेसिं मज्झिमो जो उ मंदे वी तेण वित्तिता॥

इस गाथा में चूर्णिकारने अपने भ्राताओं का नाम दिया है। वे सब मिलकर सात भाई थे। देहड़, सीह और थोर-ये तीन उनसे बड़े थे और देउल, णण्ण, और तिइज्जग-ये तीन उनसे छोटे थे। अर्थात् वे अपने माता-पिता की सात संतानों में चौथे थे—बीचके थे।

इसके अलावा वे अपने को 'मंद' भी कहते हैं। यह तो केवल नम्रता-प्रदर्शन है। उनके ज्ञान की गंभीरता और उसके विस्तार का पता, चूर्णि के पाठकों से कथमपि अज्ञात नहीं रह सकता।

(५) चूर्णि के अंत में वीसवें उद्देश की समाप्ति पर अपने परिचय के सम्बन्ध में चूर्णिकार ने दो गाथाएँ दी हैं।

प्रथम गाथा है :

> ति चउ पण अट्ठमवग्गे ति पणग ति तिग अक्खरा व तेसिं।
> पढमततिएहि तिदुसरजुएहि णामं कयं जस्स ।

सुबोधा व्याख्या के अनुसार आठ वर्ग ये हैं–१ अ, २ क, ३ च, ४ ट, ५ त, ६ प, ७ य, ८ श। इन आठ वर्गों में से तृतीय 'च' वर्ग, चतुर्थ 'ट' वर्ग, पंचम 'त' वर्ग और अष्टम 'श' वर्ग के अक्षर इनके नाम में हैं। 'च' वर्ग का तृतीय—'ज'; 'ट' वर्ग का पंचम—'ण'; 'त' वर्ग का तृतीय—'द'; और 'श' वर्ग का तृतीय—'स'। इन व्यंजनाक्षरों में जो स्वर मिलाने हैं उनका उल्लेख गाथा के उत्तरार्ध में किया गया है। वे स्वर इस प्रकार हैं—प्रथम और तृतीयाक्षर में तृतीय = 'इ' और द्वितीय = 'आ'। अस्तु क्रमशः मिलाकर 'जिणदास' यह नाम फलित होता है।

द्वितीय गाथा है :

> गुरुदिण्णं च गणित्तं महत्तरत्तं च तस्स तुट्ठेहिं।
> तेण कयेसा चुण्णी विसेसनामा निसीहस्स ।

अर्थात् गुरु ने जिसे 'गणि' पद दिया है, तथा उनसे संतुष्ट लोगों ने जिसे 'महत्तर' पदवी दी है; उसने यह निशीथ की विशेष चूर्णि निर्माण की है।

सारांश यह है कि जिनदास गणि महत्तर ने निशीथ विशेष चूर्णि की रचना की है।

नन्दी सूत्र की चूर्णि भी जिनदास कृत है। और उसके अंत में उसका निर्माण-काल शक संवत् ५९८ उल्लिखित है[१]। अर्थात् वि० सं० ७३३ में वह पूर्ण हुई। अतएव जिनदास का काल विक्रम की आठवीं शताब्दी का पूर्वार्ध निश्चित है।

चूर्णिकार जिनदास किस देश के थे, यह उन्होंने स्वयं स्पष्ट रूप से तो कहा नहीं है; किन्तु क्षेत्र-संस्तव के प्रसंग में उन्होंने कुरुक्षेत्र का उल्लेख किया है। अतः उससे अनुमान किया जा सकता है कि वे संभवतः कुरुक्षेत्र के होंगे[२]।

---

१. विशेष चर्चा के लिये, देखो—अकलंक ग्रन्थत्रय का आचार्य श्री जिनविजयजी का प्रास्ताविक पृ० ४।

२. नि० गा० १०२६ चूर्णि। गा० १०३७ चू०।

विषय-प्रवेश :

प्रस्तुत विषय-प्रवेश निशीथ सूत्र, भाष्य और चूर्णि को एक अखण्ड ग्रन्थ मान कर ही लिखा जा रहा है, जिससे कि एक ही विषय-वस्तु की बार-बार पुनरावृत्ति न करनी पड़े। आवश्यकता होने पर भाष्य-चूर्णिका पृथक् निर्देश भी किया जायगा ; अन्यथा केवल 'निशीथ' शब्द का ही प्रयोग होता रहेगा। निशीथ २० उद्देश में विभक्त है और उसमें चर्चित विषयों का विस्तृत विषयानुक्रम चारों भागों के प्रारम्भ में दिया ही गया है। अतएव उसकी पुनरावृत्ति भी यहाँ नहीं करनी है। केवल कुछ विचारणीय बातों का निर्देश करना ही प्रस्तुत में अभीष्ट है। तथा ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक और भाषाकीय सामग्री की ओर, जो इस ग्रन्थ में सर्वत्र बिखरी पड़ी है, विद्वानों का ध्यान आकर्षित करने की दिशा में ही प्रस्तुत प्रयास है। ग्रन्थ की महत्ता एवं गम्भीरता को देखते हुए, तथा समय की अल्पता एवं अपनी बहुविध कार्यव्यग्रता को ध्यान में रखते हुए यद्यपि सफलता संदिग्ध है, तथापि इस दिशामें यत्किंचित् दिग्दर्शन मात्र भी हो सका, तो मेरा यह तुच्छ प्रयास सफल समझा जाएगा।

आचारांग में निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थी संघ के कर्तव्य और अकर्तव्य के मौलिक उपदेशों का संकलन हो गया था। किन्तु जैसे-जैसे संघ का विस्तार होता गया और देश, काल, अवस्था आदि परिवर्तित होते गये, उत्सर्ग मार्ग पर चलना कठिन होता गया। अस्तु ऐसी स्थिति में आचारांग की ही निशीथ नामक चूला में, उन आचार नियमों के विषय में जो वितथकारी के लिये प्रायश्चित्त बताये गये थे[1], क्या उन प्रायश्चित्तों को केवल सूत्रों का शब्दार्थ करके ही दिया-लिया जाय, या उसमें कुछ नवीन विचारणा को भी अवकाश है? इस प्रश्न का उत्तर हमें मूल निशीथ सूत्र से तो नहीं मिलता ; किन्तु दीर्घकाल के विस्तार में यथाप्रसंग जो अनेकानेक विचारणा और निश्चय होते रहे हैं उन सब का दर्शन हमें निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि में होता है। स्पष्ट है कि जिन अपवादों का मूल में कोई निर्देश नहीं, उन अपवादों को भी निर्युक्ति आदि में स्थान मिला है—यह वस्तु पद-पद पर स्पष्ट होती है। प्रतिसेवना के दो भेद दर्प और कल्प[2] के मूल में भी मानवीय दुर्बलता ने उतना काम नहीं किया, जितना कि साधकों के दीर्घ कालीन अनुभव ने। साधक अपने साध्य की सिद्धि के हेतु आज्ञा का शब्दशः पालन करने को उद्यत था, किन्तु तथानुरूप शब्दशः पालन करने पर जब केवल अपना ही नहीं, जैन शासन का भी अहित होने की संभावनाएँ देखने में आईं तो शब्दों से ऊपर उठकर तात्पर्यार्थ पर जाना पड़ा और फलस्वरूप नाना प्रकार के अपवादों की सृष्टि हुई। कई बार उन अपवादों के प्रकार, उनका समर्थन और अवलम्बन की प्रक्रिया का वर्णन पढ़कर ऐसा लगने लगता है कि आदर्श मार्ग से किस सीमा तक संघ का पतन हो सकता है? किन्तु जब हम उन प्रक्रियाओं का अवलम्बन करने वालों की मनःस्थिति की ओर देखते हैं, तो इतना ही कहना पड़ता है कि वे अपने ही द्वारा स्वीकृत नियमोपनियमों के बंधनों से अभिभूत थे। एक ओर उन बन्धनों को किसी प्रकार भी शिथिल न करने की निष्ठा थी, तो दूसरी ओर संघ की

---

१. गा० ७१

२. गा० ७४

प्रतिष्ठा तथा रक्षा का प्रश्न भी कुछ कम महत्त्व का नहीं था—इन दो सीमा-रेखाओं के बीच तत्कालीन मनः स्थिति दोलायमान थी। टीकोपटीकाओं का तटस्थ अध्ययन इस बात की स्पष्ट साक्षी देता है कि बन्धनों को शिथिल किया गया और संघ की प्रतिष्ठा की चेष्टा की गई। यह चेष्टा सर्वथा सफल हुई, यह नहीं कहा जा सकता। कुछ साधुओं ने अपने शिथिलाचार का पोषण संघ प्रतिष्ठा के नाम से भ। करना शुरू किया, जिसके फल स्वरूप अन्ततः चैत्यवास, यति-समाज आदि के रूप में समय-समय पर शिथिलाचार को प्रश्रय मिलता चला गया। संघहित की दृष्टि से स्वीकृत किया गया शिथिलाचार, यदि साधक में व्यक्तिगत विवेक की मात्रा तीव्र हो और आचरण के नियमों के प्रति बलवती निष्ठा हो, तब तो जीवन की उन्नति में बाधक नहीं बनता। किन्तु इसके विपरीत ज्योंही कुछ हुआ कि चारित्र का केवल बाह्य रूप ही रह जाता है, आत्मा लुप्त हो जाती है। धीरे-धीरे आचरण में उत्सर्ग का स्थान अपवाद ही ले लेता है और आचरण की मूल भावना शिथिल हो जाती है। जैन संघ के आचार-सम्बन्धी कितने ही औत्सर्गिक नियमों का स्थान आधुनिक काल में अपवादों ने ले लिया है और यदि कहीं अपवादों का आश्रय नहीं भी लिया गया, तो भी यह तो देखा ही जाता है कि उत्सर्ग की आत्मा प्रायः लुप्त हो गई है। उदाहरण के तौर पर हम कह सकते हैं कि श्वेताम्बर संप्रदाय में वस्त्र स्वीकार का अपवाद मार्ग ही उत्सर्ग हो गया है; तो दूसरी ओर दिगम्बरों में अचेलता का उत्सर्ग तात्पर्य-शून्य केवल परंपरा का पालन मात्र रह गया है। मयूरपिच्छ, जो गच्छवासियों के लिये आपवादिक है (नि० गा० ५७२१); वह आज दिगम्बरों में औत्सर्गिक है। वस्तुतः सूत्र और टीकाओं में प्रति-पादित यह उत्सर्ग और अपवाद मार्ग जिस ध्येय को सिद्ध करने के लिये था, वह ध्येय तो साधक के विवेक से ही सिद्ध हो सकता है। विवेकशून्य आचरण या तो शिथिलाचार होता है, या केवल अर्थशून्य आडंबर। प्राचीन आचार्य उक्त दोनों से बचने के, देश कालानुरूप मार्ग दिखा रहे हैं। किन्तु फिर भी यह स्पष्टोक्ति स्वीकार करनी ही पड़ती है कि प्राचीन ग्रन्थों में इस बात के भी स्पष्ट प्रमाण मौजूद हैं, जो यह सिद्ध कर रहे हैं कि वे प्राचीन आचार्य भी सही राह दिखाने में सर्वथा समर्थ नहीं हो सके। संघ-हित को यहाँ तक बढ़ावा दिया गया कि व्यक्तिगत आचरण का कोई महत्त्व न हो, ऐसी धारणा लोगों में बद्धमूल हो गई। यह ठीक है कि संघ का महत्त्व बहुत बड़ा है, किन्तु उसकी भी एक मर्यादा होनी ही चाहिए। अन्यथा एक बार आचरण का बाँध शिथिल हुआ नहीं कि वह मनुष्य को दुराचरण के गड्ढे में फिर कहाँ तक और कितनी दूर तक ढकेल देगा, यह नहीं कहा जा सकता। निशीथ के चूर्णि-पर्यंत साहित्य का अध्ययन करने पर बार-बार यह विचार उठता है कि संघ-प्रतिष्ठा की झूठी धुन में कभी-कभी सर्वथा अनुचित मार्ग का अवलम्बन लेने की आज्ञा भी दी गई है, जिसका समर्थन आजका प्रबुद्ध मानव किसी भी प्रकार से नहीं कर सकता। यह कह कर भी नहीं कि उस काल में वही उचित था। कुछ बातें तो ऐसी हैं, जो सदा सर्वत्र अनुचित ही कही जायँगी। ऐसी बातों का आचरण भले ही किसी पुस्तक-विशेष में विहित भी कर दिया हो, तथापि वे सदैव त्याज्य ही हैं। वस्तुतः इस प्रकार के विधान कर्ताओं का विवेक कितना जागृत था, यह भी एक प्रश्न है। अतएव इन टीकाकारों ने जो कुछ लिखा है वह सब उचित ही है, यह कहने का साहस नहीं होता। मेरी उक्त विचारणा के समर्थन में यहाँ कुछ उदाहरण दिये जायँगे; जिन पर विद्वद्वर्ग को ध्यान देना चाहिये और साधकों को भी।

तथाकथित उदाहरणों की चर्चा करने से पहले, उत्सर्ग और अपवाद के विषय में, प्रस्तुत ग्रन्थ में जो चर्चाएँ की गई हैं, उनके सारांश को लेकर यहाँ तद्विषयक थोड़ा विचार प्रस्तुत है। सिद्धान्ततः उत्सर्ग-अपवाद का रहस्य समझने के बाद ही औचित्य-अनौचित्य का विचार सहज बोधगम्य हो सकेगा।

मूल सूत्रों की विचारणा आवश्यक :

सर्व प्रथम यह विचारणीय है कि क्या सब कुछ सूत्र के मूल शब्दों में कहा गया है, या कहा जा सकता है? यदि सब कुछ कह देने की संभावना होती, तब तो प्रारंभ में ही नियमोपनियमों की एक लंबी सूची बना दी जाती और फिर उसमें व्याख्या करने की आवश्यकता ही नहीं रहती। द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव की आवश्यकता ने सर्व प्रथम व्याख्याताओं को इसी प्रश्न पर विचार करने को बाध्य किया कि क्या विधि सूत्र अर्थात् आचारांग और तदनन्तर दशवैकालिक आदि में शब्दतः सम्पूर्ण विधि-निषेध का उपदेश हो गया है—ऐसा माना जाए या नहीं?

जिस प्रकार द्रव्यानुयोग के विषय में यह समाधान देना आवश्यक प्रतीत हुआ कि तीर्थंकर केवल त्रिपदी—'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य'-का उपदेश करते हैं, तदनन्तर उसका विवरण करना या उस त्रिपदी के आधार पर द्वादशांग रूप वाङ्मय की रचना करना गणधर का कार्य है, उसी प्रकार चरणानुयोग की विचारणा में भी आचार्यों को विवश होकर अंत में यह कह देना पड़ा कि—'तीर्थंकरों ने किसी विषय की अनुज्ञा या प्रतिषेध नहीं किया है; केवल इतनी ही आज्ञा दी है कि कार्य उपस्थित होने पर केवल सत्य का आश्रय लिया जाय अर्थात् अपनी आत्मा या दूसरों की आत्मा को धोखा न दिया जाय[१]।' "संयमी पुरुष का ध्येय मोक्ष है। अतएव वह अपने प्रत्येक कार्य के विषय में सोचे कि मैं उससे—मोक्ष से दूर जा रहा हूँ या निकट? जब सिद्धान्त में एकान्त विधि या एकान्त निषेध नहीं मिलता, तब अपने लाभालाभ की चिन्ता करने वाले बनिये के समान साधक अपने आय-व्यय की तुलना करे,[२]" यही उचित है। "उत्सर्ग और अपवाद अति विस्तृत हैं। अतएव संयमवृद्धि और निर्जरा को देखकर ही कर्तव्य का निश्चय किया जाय"—यह उचित है[३]। स्पष्ट है कि आचार्यों ने अपनी उक्त विचारणा में यह तो निश्चित किया ही कि विधि सूत्रों के शब्दों में जो कुछ ग्रथित है, उतना ही और उसे ही अंतिम सत्य मानकर चलने से काम नहीं चलेगा। अतएव आचार-सूत्रों की व्याख्या द्रव्य क्षेत्र-काल-भाव की दृष्टि से करना नितांत आवश्यक है। केवल 'शब्द' ही नहीं, किन्तु 'अर्थ' भी प्रमाण है; अर्थात् आचार्यों द्वारा की गई व्याख्या भी उतनी ही प्रमाण है, जितना कि मूल शब्द। अर्थात् आचार-वस्तु में केवल शब्दों को लेकर चलने से अनर्थ की संभावना है, अतः तात्पर्यार्थ तक जाना पड़ता है। ऐसा होने पर ही संयम की साधना उचित मार्ग से चल सकती है और साध्य-मोक्ष की प्राप्ति भी हो सकती है। अतएव यह भी कहना पड़ा कि 'यदि सूत्र में जैसा

१. नि० गा० ५२४८; बृ० गा० ३३३०।
२. नि० २०६७, उपदेशमाला गा० ३९२।
३. व्य० भाग ३, पृ० ७६, नि० चू० ६०२३।

लिखा है वैसा ही आचरण किया जाए—अर्थात् केवल सूत्रों के मूल शब्दों को आधार मान कर ही आचरण किया जाए और उसमें विचारणा के लिए कुछ अवकाश ही न हो, तो दृष्टि प्रधान पुरुषों द्वारा कालिक सूत्र अर्थात् द्वादशांग की व्याख्या क्यों की गई ?'[१] यही सूचित करता है कि केवल शब्दों से काम नहीं चल सकता। उचित मार्ग यही है कि उसकी परिस्थित्यनुसार व्याख्या की जाय। 'सूत्र में अनेक अर्थों की सूचना रहती है। आचार्य उन विविध अर्थों का निर्देश व्याख्या में कर देते हैं[२]।' सिद्ध है कि विचारणा के विना यह संभव नहीं। अतएव सूत्र के केवल शब्दों को पकड़ कर चलने से काम नहीं चल सकता। उसकी व्याख्या तक जाना होगा—तभी उचित आचरण कहा जायगा, अन्यथा नहीं। यह आचार्यों का निश्चित अभिप्राय है। 'जिस प्रकार एक ही मिट्टी के पिंड में से कुम्भकार अनेक प्रकार की आकृति वाले वर्तनों की सृष्टि करता है, उसी प्रकार आचार्य भी एक ही सूत्र-शब्द में से नाना अर्थों की उत्प्रेक्षा करता है। जिस प्रकार गृह में जब तक अंधकार है तब तक वहाँ स्थित भी अनेक पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होते हैं, उसी प्रकार उत्प्रेक्षा के अभाव में शब्द के अनेकानेक विशिष्ट अर्थ अप्रकाशित ही रह जाते हैं[३]।' अतएव सूत्रार्थ की विचारणा के लिए अवकाश है ही। यह आचार्यों की विचारणा का ही फल है कि विविध सूत्रों की विचारणा करके उन्होंने निश्चय किया कि किस सूत्र को उत्सर्ग कहा जाय और किस को अपवाद सूत्र ? और किस को तदुभय कहा जाय[४]। तदुभय सूत्र के चार प्रकार हैं—उत्सर्गापवादिक, अपवादौत्सर्गिक, उत्सर्गौत्सर्गिक और अपवादापवादिक। इस प्रकार कुल छः प्रकार के सूत्र होते हैं[५]। इतना ही नहीं, किन्तु ऐसा भी होता है कि 'अनेक में से केवल एक का ही शब्दतः सूत्र में ग्रहण करके शेष की सूचना की जाती है, कोई सूत्र केवल निर्ग्रन्थ के लिये होता है, कोई केवल निर्ग्रन्थी के लिये होता है तो कोई सूत्र दोनों के लिये होता है[६]।' सूत्रों के ये सब प्रकार भी विचारणा की अपेक्षा रखते हैं। इनके उदाहरणों के लिये, वाचक, प्रस्तुत ग्रन्थ की गा० ५२३४ से आगे देख लें—यही उचित है।

जैन आचार्यों ने 'शब्द' के उपरान्त 'अर्थ' को भी महत्त्व दिया है। इसके मूल की खोज की जाए तो पता लगता है कि जैन मान्यता के अनुसार तीर्थंकर तो केवल 'अर्थ' का उपदेश करते हैं। 'शब्द' गणधर के होते हैं[७]।' अर्थात् मूलभूत 'अर्थ' है, न कि 'शब्द'। वैदिकों में तो मूलभूत 'शब्द' है, उसके बाद उसके अर्थ की मीमांसा होती है[८]। किन्तु जैन मत के अनुसार मूलभूत 'अर्थ' है, शब्द तो उसके बाद आता है। यही कारण है कि सूत्रों के शब्दों का उतना महत्त्व नहीं है, जितना उनके अर्थों का है, और यही कारण है कि आचार्यों ने शब्दों को

---

१. नि० गा० ५२३३, बृ० गा० ३३१५।
२. नि० गा० ५२३३ की चूर्णि।
३. नि० गा० ५२३२ की चूर्णि।
४. नि० गा० ५२३४, बृ० गा० ३३१६।
५. वही चूर्णि।
६. नि० गा० ५२३५, बृ० गा० ३३१७।
७. बृ० भा० गा० १९३।
८. बृ० भा० गा० १९१।

उतना महत्त्व नहीं दिया, जितना कि अर्थों को दिया और फलस्वरूप शब्दों को छोड़ कर वे तात्पर्यार्थ की ओर आगे बढ़ने में समर्थ हुए। तात्पर्यार्थ को पकड़ने में सदैव समर्थ हुए या नहीं—यह दूसरा प्रश्न है, किन्तु शब्द को छोड़ कर तात्पर्य की ओर जाने की छूट उन्हें थी, यही यहां पर महत्त्व की बात है। इसी दृष्टि से शब्दों के अर्थ के लिये 'भाषा', 'विभाषा', और 'वार्तिक'—ये भेद किये गये। 'शब्द' का केवल एक प्रसिद्ध अर्थ करना 'भाषा' है, एक से अधिक अर्थ कर देना 'विभाषा' है, और यावत् अर्थ कर देना 'वार्तिक' है। जो श्रुतकेवली पूर्वधर है, वही 'वार्तिक' कर सकता है[1]।

एक प्रश्न उपस्थित किया गया है कि जिन अर्थों का उपदेश ऋषभादि तीर्थंकरों ने किया, क्या उन्हीं अर्थों का उपदेश, वर्धमान—जो आयु में तथा शरीर की ऊंचाई में उनसे हीन थे—कर सकते हैं? उत्तर दिया गया है कि शरीर छोटा हो या बड़ा, किन्तु शरीर की रचना तो एक जैसी ही थी, धृति समान थी, केवलज्ञान एक जैसा ही था, प्रतिपाद्य विषय भी वही था, तब वर्धमान उनही अर्थों का प्रतिपादन क्यों नहीं कर सकते? हाँ, कुछ तात्कालिक बातें ऐसी हो सकती हैं, जो वर्धमान के उपदेश की मौलिक विशेषता कही जा सकती हैं। इसी लिये श्रुत के दो भेद होते हैं—'नियत', जो सभी तीर्थंकरों का समान है, और 'अनियत', जो समान नहीं होता[2]।

उपर्युक्त विचारणा से स्पष्ट है कि आचार्यों के समक्ष यह वैदिक विचारणा थी कि शब्द नित्य हैं, उनके अर्थ नित्य हैं और शब्द तथा अर्थ के संबंध भी नित्य हैं। इसी वैदिक विचार को नियत श्रुत के रूप में अपनाया गया है। साथ ही अनेकान्तवाद के आश्रय से अनियत श्रुत की भी कल्पना की गई है। आचार्य अपनी ओर से व्याख्या करते हैं, किन्तु उस व्याख्या का तीर्थंकरों की किसी भी आज्ञा से विरोध नहीं होना चाहिए। अतएव सूत्रों में शब्दतः कोई बात नहीं भी कही गई हो, किन्तु अर्थतः वह तीर्थंकरों को अभिप्रेत थी, इतना ही कहने का अधिकार आचार्य को है। तीर्थंकर की आज्ञा के विरोध में अपनी आज्ञा देने का अधिकार आचार्य को नहीं है। क्योंकि तीर्थंकर और आचार्य की आज्ञा में बलाबल की दृष्टि से तीर्थंकर की आज्ञा ही बलवती मानी जाती है, आचार्य की नहीं। अतएव तीर्थंकर की आज्ञा की अवहेलना करने वाला व्यक्ति अविनय एवं गर्व के दोष से दूषित माना गया है[3]। जिस प्रकार श्रुति और स्मृति में विरोध होने पर श्रुति ही बलवान मानी जाती है, उसी प्रकार तीर्थंकर की आज्ञा आचार्य की आज्ञा से बलवती है।

उत्सर्ग और अपवाद[*] :

एक बार जब यह स्वीकार कर लिया गया कि विचारणा को अवकाश है, तब परिस्थिति को देखकर मूल सूत्रों के अपवादों की सृष्टि करना, आचार्यों के लिये सहज हो गया।

---

१. बृ० भा० गा० १९६-९।

२. बृ० भा० गा० २०२-४।

३. नि० गा० ५४७२।

* इसका विशेष विवेचन उपाध्याय श्री अमरमुनिजी लिखित निशीथ के तृतीय भाग की प्रस्तावना में द्रष्टव्य है। तथा मुनिराज श्री पुण्यविजयजी की बृहत्कल्प के छठे भाग की प्रस्तावना भी द्रष्टव्य है।

यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि यह अपवाद मार्ग केवल स्थविरकल्प में ही उचित समझा गया है[१]। जिनकल्प में तो साधक केवल औत्सर्गिक मार्ग पर ही चलते हैं[२]। यह भी एक कारण है कि प्रस्तुत निशीथ सूत्र को 'कल्प' न कहकर 'प्रकल्प' कहा गया है ; क्योंकि इसमें उत्सर्ग-कल्प का नहीं ; किन्तु स्थविर-कल्पका वर्णन है। स्थविर-कल्प का ही दूसरा नाम 'प्रकल्प' है। और 'कल्प' जिनकल्प को[३] कहते हैं। प्रतिषेध के लिये उत्सर्ग शब्द का प्रयोग है और 'अनुज्ञा' के लिए अपवाद का[४]। इससे फलित है कि उत्सर्ग प्रतिषेध है, और अपवाद विधि है।

संयमी पुरुष के लिये जितने भी निषिद्ध कार्य न करने योग्य कहे गये हैं, वे, सभी 'प्रतिषेध' के अन्तर्गत आते हैं। और जब परिस्थिति-विशेष में उन्हीं निषिद्ध कार्यों को करने की 'अनुज्ञा' दी जाती है, तब वे ही निषिद्ध कर्म 'विधि' बन जाते हैं[५]। परिस्थिति-विशेष में अकर्तव्य भी कर्तव्य बन जाता हैं ; किन्तु प्रतिषेध को विधि में परिणत कर देने वाली परिस्थिति का औचित्य और परीक्षण करना, साधारण साधक के लिये संभव नहीं है। अतएव ये 'अपवाद' 'अनुज्ञा' या 'विधि' सब किसी को नहीं बताये जाते। यही कारण है कि 'अपवाद' का दूसरा नाम 'रहस्य' (नि० चू० गा० ४६५) पड़ा है। इससे यह भी फलित हो जाता है कि जिस प्रकार 'प्रतिषेध' का पालन करने से आचरण विशुद्ध माना जाता है, उसी प्रकार अनुज्ञा के अनुसार अर्थात् अपवाद मार्ग पर चलने पर भी आचरण को विशुद्ध ही माना जाना चाहिए[६]। यदि ऐसा न माना जाता तब तो एक मात्र उत्सर्ग मार्ग पर ही चलना अनिवार्य हो जाता ; फलस्वरूप अपवाद मार्ग का अवलंबन करने के लिए कोई भी किसी भी परिस्थिति में तैयार ही न होता। परिणाम यह होता कि साधना मार्ग में केवल जिनकल्प को ही मानकर चलना पड़ता। किन्तु जब से साधकों के संघ एवं गच्छ बनने लगे, तब से केवल औत्सर्गिक मार्ग अर्थात् जिनकल्प संभव नहीं रहा। अतएव स्थविरकल्प में यह अनिवार्य हो गया कि जितना 'प्रतिषेध' का पालन आवश्यक है, उतना ही आवश्यक 'अनुज्ञा' का आचरण भी है। बल्कि परिस्थिति-विशेष में 'अनुज्ञा' के अनुसार आचरण नहीं करने पर प्रायश्चित्त का भी विधान करना पड़ा है। जिस प्रकार 'प्रतिषेध' का भंग करने पर प्रायश्चित्त है उसी प्रकार अपवाद का आचरण नहीं करने पर भी प्रायश्चित्त है[७]। अर्थात् 'प्रतिषेध' और 'अनुज्ञा' उत्सर्ग और अपवाद—दोनों ही समबल माने गये। दोनों में ही विशुद्धि है। किन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि उत्सर्ग राजमार्ग है, जिसका अवलंबन साधक के लिये सहज है ; किन्तु अपवाद, यद्यपि आचरण में सरल है, तथापि सहज नहीं है।

---

१. स्थविरकल्प में स्त्री-पुरुष दोनों होते हैं। जिनकल्प में केवल पुरुष। नि० गा० ८७।

२. नि० गा० ६६६८ की उत्थान चूर्णि।

३. नि० चू० पृ० ३८ गा० ७७ के उत्तरार्ध की चूर्णि। और गा० ८१, ८२ की चूर्णि।

४. नि० चू० गा० ३६४।

५. नि० गा० ५२४५।

६. नि० चू० पृ० ३; गा० २८७, १०२२, १०६८, ४१०३।

७. नि० गा० २३१।

अपवाद का अवलंबन करने से पहले कई शर्तों को पूरा करना पड़ता है; अन्यथा अपवादमार्ग पतन का मार्ग बन जाता है। यही कारण है कि स्पष्ट रूप से प्रतिसेवना के दो भेद बताये गये हैं-अकारण अपवाद का सेवन 'दर्प' प्रति सेवना है और सकारण प्रति सेवना 'कल्प' है। संयमी पुरुष के लिये मोक्ष मार्ग पर चलना, यह मुख्य है। मोक्ष मार्ग में ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र की साधना होती है। आचार का पालन करना चारित्र है; किन्तु उक्त चारित्र के कारण यदि दर्शन और ज्ञान की हानि होती हो, तो वह चारित्र, चारित्र नहीं रहता। अतएव ज्ञान-दर्शन की पुष्टि में बाधक होने वाला आचरण चारित्र की कोटी में नहीं आता। यही कारण है कि ज्ञान और दर्शन के कारण आचरण के नियमों में अर्थात् चारित्र में अपवाद करना पड़ता है। उक्त अपवादों का सेवन 'कल्पप्रतिसेवना' के अन्तर्गत इसलिये हो जाता है कि साधक अपने ध्येय से च्युत नहीं होता। अर्थात् अपवाद सेवन के कारणों में 'ज्ञान' और 'दर्शन' ये दो मुख्य हैं। यदि अपवाद सेवन की स्थिति में इन दोनों में से कोई भी कारण उपस्थित न हो, तो वह प्रतिसेवना अकारण होने से 'दर्प' के अन्तर्गत होती है। दर्प का परित्याग करके 'कल्प' का आश्रय लेना ही साधक को उचित है। अतएव दर्प को निषिद्ध माना गया है[1]। ज्ञान और दर्शन इन दो कारणों से प्रतिसेवना हो तो कल्प है—ऐसा मानने पर प्रश्न होता है कि तब दुर्भिक्ष आदि अन्य अनेक प्रकार के कारणों की जो चर्चा आती है[2]; उसका समाधान क्या है? मुख्य कारण तो ज्ञान-दर्शन ही हैं, किन्तु उनके अतिरिक्त जो अन्य कारणों की चर्चा आती है, उसका अर्थ यह है कि साक्षात् ज्ञान दर्शन की हानि होने पर जिस प्रकार अपवाद मार्ग का आश्रय लिया जाता है, उसी प्रकार यदि परंपरा से भी ज्ञान-दर्शन की हानि होती हो तब भी अपवाद का आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है। दुर्भिक्ष में उत्सर्ग नियमों का पालन करते हुए आहारादि आवश्यक सामग्री जुटाना संभव नहीं रहता। और आहार के बिना शरीर का स्वस्थ रहना संभव नहीं। शरीर के अस्वस्थ होने पर अवश्य ही स्वाध्याय की हानि होगी, और इस प्रकार अन्ततः ज्ञान-दर्शन की हानि होगी ही। यह ठीक है कि दुर्भिक्ष से साक्षात् ज्ञान-हानि नहीं होती, किन्तु परंपरा से तो होती है। अतएव उसे भी अपवाद मार्ग के कारणों में स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार अन्य कारणों का भी ज्ञान-दर्शन के साथ परंपरा सम्बन्ध है।

अथवा प्रतिसेवना का विभाजन एक अन्य प्रकार से भी किया गया है— (१) दर्प प्रति-सेवना, (२) कल्पप्रति सेवना, (३) प्रमादप्रति सेवना और (४) अप्रमादप्रति सेवना[3]। किन्तु उक्त चारों को पुनः दो में ही समाविष्ट कर दिया गया है, क्योंकि प्रमाद दर्प है और अप्रमाद

---

१. नि० गा० ८८। और उसकी चूर्णि। गा० १४४, ३६३, ४६३।

२. नि० गा० १७५, १८८, १९२, २२०, २२१, ४८४,-५, २४४, २५३, ३२१, ३४२, ४१९, ३९१, ३६४, ४२५, ४५३, ४५८, ४८८१ इत्यादि।

३. नि० गा० ९०।

कल्प। अर्थात् जो आचरण प्रमाद-पूर्वक किया जाता है, वह दर्प प्रतिसेवना है और जो अप्रमाद-पूर्वक किया जाता है, वह कल्प प्रति सेवना है[१]।

जैन आचार के मूल में अहिंसा है। एक प्रकार से अहिंसा का ही विस्तार सत्य आदि हैं। अतएव आचरण का सम्यक्त्व इसी में है कि वह अहिंसक हो। और वह आचरण दुश्चरित कहा जाएगा, जो हिंसक हो। हिंसा-अहिंसा की सूक्ष्म चर्चा का सार यही है कि प्रमाद ही हिंसा है और अप्रमाद ही अहिंसा[२] अतएव प्रस्तुत में प्रमाद प्रति सेवना को 'दर्प' कहा गया और अप्रमाद प्रति सेवना को 'कल्प'। संयमी साधक को अप्रमादी रह कर आचरण करना चाहिए, कभी भी प्रमादी जीवन नहीं बिताना चाहिए ; क्योंकि उसमें हिंसा है और साधक की प्रतिज्ञा अहिंसक जीवन व्यतीत करने की होती है।

अप्रमाद प्रति सेवना के भी दो भेद किये गये हैं—अनाभोग और सहसाकार[३]। अप्रमादी होकर भी यदि कभी ईर्या आदि समिति में विस्मृति आदि किसी कारण से अल्पकाल के लिये उपयोग न रहे, तो वह अनाभोग कहा जाता है[४]। इसमें, यद्यपि प्राणातिपात नहीं है, मात्र विस्मृति है ; तथापि यह प्रतिसेवना के अन्तर्गत तो है ही[५]। प्रवृत्ति हो जाने के बाद यदि पता चल जाए कि हिंसा की संभावना है, किन्तु परिस्थितिवश इच्छा रहते हुए भी प्राणवध से बचना संभव न हो, तो उस प्रतिसेवना को सहसाकार कहते हैं[६]। कल्पना कीजिए कि संयमी उपयोगपूर्वक चल रहा है। मार्ग में कहीं सूक्ष्मता आदि के कारण पहले तो जीव दीखा नहीं, किन्तु ज्योंही चलने के लिये पैर उठाया कि सहसा जीव दिखाई दिया और बचाने का प्रयत्न भी किया, तथापि न संभल सकने के कारण जीव के ऊपर पैर पड़ ही गया और वह मर भी गया, तो यह प्रतिसेवना सहसाकार प्रतिसेवना है[७]।

अनाभोग और सहसाकार प्रतिसेवना में प्राणिवध होते हुए भी बंध=कर्म बंध नहीं माना गया है। क्योंकि प्रतिसेवक समित है, अप्रमादी है, और यतनाशील है (नि० गा० १०३)। यतनाशील पुरुष की कल्पिका सेवना, न कर्मोदयजन्य है और न कर्मजनक ; प्रत्युत कर्मक्षयकारी है। इसके विपरीत दर्प प्रतिसेवना कर्मबन्धजनक है (नि० गा० ६३०३-८)। यतना की यह भी व्याख्या है कि अशठ पुरुष का जो भी रागद्वेष रहित व्यापार है, वह सब यतना है। इसके विपरीत रागद्वेषानुगत व्यापार अयतना है। (नि० गा० ६६६६)

---

१. नि० गा० ६१।

२. नि० गा० ६२।

३. नि० गा० ६०, ६५।

४. नि० गा० ६६।

५. नि० चू० गा० ६६।

६. नि० गा० ६७।

७. नि० गा० ६८ से।

अहिंसा के उत्सर्ग-अपवाद :

संयमी जीवन का सर्वस्व अहिंसा है[1]—ऐसा मानकर सर्व प्रथम संयमी जीवन के जो भी नियमोपनियम बने, उन सब में यही ध्यान रखा गया कि साधक का जीवन ऐसा होना चाहिए कि जिसमें हिंसा का आश्रय न लेना पड़े। इसी दृष्टि से यह भी आवश्यक समझा गया कि संयमी के पास अपना कहने जैसा कुछ भी न हो। क्योंकि समग्र हिंसा के मूल में परिग्रह का पाप है। अतएव यदि सब प्रकार के परिग्रह से मुक्ति ली जाए, तो हिंसा का संभव कम से कम रह जाए। इस दृष्टि से सर्व प्रथम यह आवश्यक माना गया कि संयमी अपना परिवार और निवास-स्थान छोड़ दे। अपनी समस्त संपत्ति का परित्याग करे, यहाँ तक कि शरीराच्छादन के लिए आवश्यक वस्त्र तक का परित्याग कर दे[2]। अन्ततः साधना का अर्थ यही हुआ कि सब कुछ त्याग देने पर भी आत्मा का जो शरीर रूप परिग्रह शेष रह जाता है, उसका भी परित्याग करने की प्रक्रियामात्र है। अर्थात् दीक्षित होने के बाद लंबे काल तक की मारणांतिक आराधना का कार्यक्रम ही जीवन में शेष रह जाता है। इस आराधना में राग द्वेष के परित्याग-पूर्वक शरीर के ममत्व का परित्याग करने का ही अभ्यास करना पड़ता है। ज्ञान, ध्यान, जप, तप आदि जो भी साधना के अंग हैं, उन सबका यही फल होता है कि आत्मा से शरीर का संबंध सर्वथा छूट जाए!

साधना, आत्मा को शरीर से मुक्त करने की एक प्रक्रिया है। किन्तु, आत्मा और शरीर का सांसारिक अवस्था में ऐसा तादात्म्य हो गया होता है कि शरीर की हठात् सर्वथा उपेक्षा करने पर आत्म-लाभ के स्थान पर हानि होने की ही अधिक संभावना है। इस दृष्टि से दीर्घकाल तक जो साधना करनी है, उसका एक साधन शरीर भी है, (दश वै० ५, ९२) ऐसा माना गया। अतएव उतनी ही हद तक शरीर की रक्षा करना अनिवार्य है, जितनी हद तक वह साधना का साधन बना रहता है। जहाँ वह साधना में बाधक हो, वहाँ उसकी रक्षा त्याज्य है; किन्तु साधन का सर्वथा परित्याग कर देने पर साधना संभव नहीं—यह भी एक ध्रुव सत्य है। अतएव आत्म-शुद्धि के साथ-साथ शरीर-शुद्धि की प्रक्रिया भी अनिवार्य है। ऐसा नहीं हो सकता कि साधना-स्वीकृति के प्रथम क्षण में ही शरीर की सर्वथा उपेक्षा कर दी जाए। निष्कर्ष यही निकला कि सर्वस्व-त्यागी संयमी जीवन-यापन की दृष्टि से ही आहार ग्रहण करेगा, न कि शरीर की या रसास्वादन की पुष्टि के लिए। आहार जुटाने के लिए जो कार्य या व्यापार एक गृहस्थ को करने पड़ते हैं, यदि साधक भी, वे ही सब कुछ करने लगे, तब तो वह पुनः सांसारिक प्रपंच में ही उलझ जाएगा। इस दृष्टि से यह उचित माना गया कि संयमी अपने आहार का प्रबंध माधुकरी वृत्ति से करे (दशवै० १. २-५)। इस वृत्ति के कारण जैसा भी मिले, या कभी नहीं भी मिले, तब भी उसे समभाव पूर्वक ही जीवन यापन करना चाहिए, यही

---

१. 'अहिंसा निउणा दिट्ठा सव्वभूएसु संजमो' ६.१०।
सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं निग्गंथा वज्जयंति णं ॥ ६.११ ॥ दशवै०

२. दश वै० ४.१७-१८।

साधक की आहार-विषयक साधना है। उक्त साधना के मुख्य नियम यही बने कि वह अपने लिये बनी कोई भी वस्तु भिक्षा में स्वीकार न करे, और न अपने लिये आहार की कोई वस्तु स्वयं ही तैयार करे। दी जाने वाली वस्तु भी ऐसी होनी चाहिए जो शरीर की पुष्टि में नहीं; किन्तु जीवन-यापन में सहायक हो अर्थात् रूखा-सूखा भोजन ही ग्राह्य है। और खास बात यह है कि वह ऐसी कोई भी वस्तु आहार में नहीं ले सकता, जो सजीव हो या सजीव से सम्बन्धित हो। इतना ही नहीं, किन्तु भिक्षाटन करते समय यदि संयमी से या देते समय दाता से, किसी को किसी प्रकार का कष्ट हो, जीव-हिंसा की संभावना हो तो वह भिक्षा भी स्वीकरणीय नहीं है। इतना ही नहीं, दाता के द्वारा पहले या पीछे किसी भी समय यदि भिक्षु के निमित्त हिंसा की संभावना हो तो वह इस प्रकार की भिक्षा भी स्वीकार नहीं करेगा। इत्यादि मुख्य नियमों को लक्ष्य में रखकर जो उपनियम बने, उनकी लम्बी सूचियाँ शास्त्रों में हैं (दशवै० अ० ५); जिन्हें देखने से यह निश्चय होता है कि उन सभी नियमोपनियमों के पीछे अहिंसा का सूक्ष्मतम दृष्टिकोण रहा हुआ है। अस्तु जहाँ तक संभव हो, हिंसा को टालने का पूरा प्रयत्न है।

आहार-विषयक नियमोपनियमों का अथवा उत्सर्ग अपवाद-विधि का विस्तार आचारांग, दशवैकालिक, बृहत्कल्प, कल्प आदि में है; किन्तु वहाँ प्रायश्चित्त की चर्चा नहीं है। प्रायश्चित्त की प्राप्ति अर्थतः फलित होती है। किन्तु क्या प्रायश्चित हो, यह नहीं बताया गया। निशीथ मूल सूत्र में ही तत्तत् नियमोपनियमों की क्षति के लिये प्रायश्चित्त बताया गया है[१]। साथ ही निर्युक्ति, भाष्य तथा चूर्णिकारों के लिये यह भी आवश्यक हो गया कि प्रत्येक सूत्र की व्याख्या के समय और प्रायश्चित्त का विवरण देते समय यह भी बता दिया जाए कि नियम के भंग होने पर भी, किस विशेष परिस्थिति में साधक प्रायश्चित्त से मुक्त रहता है—अर्थात् बिना प्रायश्चित्त ही शुद्ध होता है।

आहार-विषयक उक्त नियमों का सर्जन औत्सर्गिक अहिंसा के आधार पर किया गया है। अतएव अहिंसा के अपवादों को लक्ष्य में रखते हुए आहार के भी अपवाद बनाये जाएँ-यह स्वाभाविक है। स्वयं अहिंसा के विषय में भी अनेक अपवाद हैं. किन्तु हम यहाँ कुछ की ही चर्चा करेंगे, जिससे प्रतीत होगा कि जीवन में अहिंसा का पालन करना कितना कठिन है और मनुष्य ने अहिंसा के पालन का दावा करके भी क्या क्या नहीं किया ?

अहिंसा की चर्चा करते हुए कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति अपने विरोधी का पुतला बनाकर उसे मर्माहत करे तो वह दर्पप्रतिसेवना है[२]—अर्थात् हिंसा है। किन्तु धर्म-रक्षा के

---

१. नि०सू० २. ३२-३६, ३८-४६; ३. १-१५; ४. १६-२१, ३८-३६, ११२; ५. १३-१४, ३४-३५; ८. १४-१८; ६. १-२, ६; ११. ३, ६, ७२-८१; १२. ४, १४-१५, ३०-३१, ४१; १३. ६४-७८; १५. ५-१२, ७५-८६; १६. ४-१३, १६-१७, २७, ३३-३७; १७. १२४-१३२; १८. २०–२३; १६. १-७।

२. नि० गा० १५५।

निमित्त अर्थात् साधु-संघ या चैत्य का कोई विरोधी हो तो, उसका मिट्टी का पुतला[1] बनाकर मर्माहत करना धर्म-कार्य है; फलतः वह कल्प प्रतिसेवना के अन्तर्गत हो जाता है[2]। अर्थात् ऐसी हिंसा करने वाला पापभागी नहीं बनता। हिंसा का यह अहिंसक तरीका आज भले ही हास्यास्पद लगे; किन्तु जिस समय लोगों का मन्त्रों में विश्वास था, उस समय उन्होंने यही ठीक समझा होगा कि हम प्रत्यक्षतः अपने शत्रु की हिंसा नहीं करते, केवल उसके पुतले की हत्या करते हैं और तद्द्वारा शत्रु की हिंसा होती है, अस्तु इस पद्धति के द्वारा हम कम से कम साक्षात् हिंसा से तो बच ही जाते हैं। वस्तुतः विचार किया जाए, तो तत्कालीन साधकों के समक्ष अहिंसा के बल पर शत्रु पर किस प्रकार विजय प्राप्त की जाए, इसकी कोई स्पष्ट प्रक्रिया नहीं थी—ऐसा लगता है। अतएव शत्रु के हृदय को परिवर्तित करने जितना धैर्य न हो, तो यह भी एक अहिंसक मार्ग है। यह मान लिया गया।

धर्म-शत्रु परोक्ष हो तो मंत्र का आश्रय लिया जाय, किन्तु वह यदि समक्ष ही आ जाय और आचार्य आदि के वध के लिये तैयार हो जाय, तो इस परिस्थिति में क्या किया जाए? यह प्रश्न भी अहिंसक संघ के समक्ष था। उक्त प्रश्न का अपवाद मार्ग में जो समाधान दिया गया है वह आज के समाज की दृष्टि में, जो सत्याग्रह का पाठ भी जानता है, भले ही अहिंसक न माना जाए, किन्तु निशीथ भाष्य और चूर्णिकार ने तो उसमें भी विशुद्ध अहिंसा का पालन ही माना है। निशीथ चूर्णि में कहा है कि[3] यदि ऐसा शत्रु आचार्य या गच्छ के वध के लिये उद्यत है, अथवा किसी साध्वी का बलात्कार पूर्वक अपहरण करना चाहता है, अथवा चैत्यों या चैत्यों के द्रव्य का विनाश करने पर तुला हुआ है, और आपके उपदेश को मानता ही नहीं; तब उसकी हत्या करके आचार्य आदि की रक्षा करनी चाहिए। ऐसी हत्या करता हुआ संयमी मूलतः विशुद्ध ही माना गया है 'एवं करेंतो विशुद्धो'।

एक बार ऐसा हुआ कि एक आचार्य बहुशिष्य परिवार के साथ विहार कर रहे थे। संध्या का समय था और वे एक श्वापदाकुल भयंकर अटवी में पहुँच गए। संघ में एक दृढ़ शरीर वाला कोंकणदेशीय साधु था। रात में संघ की रक्षा का भार उसे सोंपा गया। शिष्य ने आचार्य से पूछा कि हिंस्र पशु का प्रतिकार उसे कष्ट पहुँचाकर किया जाय या बिना कष्ट के? आचार्य ने कहा कि यथा संभव कष्ट पहुँचाए बिना ही प्रतिकार करना चाहिए, किन्तु यदि कोई अन्य उपाय संभव न हो तो कष्ट भी दिया जा सकता है। रात में जब शेष साधु सो गए, तो वह कोंकणी साधु रक्षा के लिए जागता रहा और उसने इस प्रसंग में तीन सिंहों की हत्या करदी। प्रातःकाल उसने आचार्य के पास आलोचना की और वह शुद्ध माना गया। इस प्रकार जो भी संघ-रक्षा के निमित्त किसी की हत्या करता है, वह शुद्ध ही माना जाता है[4]।

---

१. मिट्टी का पुतला बनाकर, उसे अभिमंत्रित कर, पुतले में जहाँ-जहाँ मर्म भाग हों वहाँ [illegible] करने पर, जिसका पुतला होता उसके मर्म का घात किया जाता था।

२. नि० गा० १६७,

३. नि० चू० गा० २८९।

४. 'एवं आयरियादि कारणेसु वावादिंतो सुद्धो'—नि० चू० गा० २८९, पृ० १०१ भाग १।

भगवान् महावीर के द्वारा आचरित अहिंसा में और इन टीकाकारों की अहिंसा-सम्बन्धी कल्पना में आकाश-पाताल जैसा स्पष्ट अन्तर दीखता है। भ० महावीर तो शत्रु के द्वारा होने वाले सभी प्रकार के कष्टों को सहन कर लेने में ही श्रेय समझते थे। और अपनी रक्षा के लिये मनुष्य की तो क्या, देव की सहायता लेना भी उचित नहीं समझते थे। किन्तु समय का फेर है कि उन्हीं के अनुयायी उस उत्कट अहिंसा पर चलने में समर्थ नहीं हुए, और गीतानिर्दिष्ट—'आततायिनमायान्तम्' की व्यावहारिक अहिंसा-नीति का अनुसरण करने लग गए। विवश होकर पारमार्थिक अहिंसा का पालन छोड़ दिया गया। अथवा यह कहना उचित होगा कि तत्कालीन साधक के समक्ष, अपने व्यक्तित्व की अपेक्षा, संघ और प्रवचन—अर्थात् जैन शासन का व्यक्तित्व अत्यधिक महत्त्वशाली हो गया था। अतएव व्यक्ति, जो कार्य अपने लिये करना ठीक नहीं समझता था, वह सब संघ के हित में करने को तैयार हो जाता था। और तात्कालिक संघ की रक्षा करने में आनन्द मनाता था। ऐसा करने पर समग्ररूप से अहिंसा की साधना को बल मिला, यह तो नहीं कहा जा सकता। किन्तु ऐसा करना इसलिये उचित माना गया कि यदि संघ का ही उच्छेद हो जाएगा तो संसार से सन्मार्ग का ही उच्छेद हो जाएगा। अतएव सन्मार्ग की रक्षा के निमित्त कभी कभाक असन्मार्ग का भी अवलंबन लेना आवश्यक है। प्रस्तुत विचारणा इसलिये दोष पूर्ण है कि इसमें 'सन्मार्ग पर दृढ़ रहने से ही सन्मार्ग टिक सकता है'—इस तथ्य के प्रति अविश्वास किया गया है और 'हिंसा से भी अहिंसा की रक्षा करना आवश्यक है'—इस विश्वास को सुदृढ बनाया गया है। साधन और साध्य की एक रूपता के प्रति अविश्वास फलित होता है, और उचित या अनुचित किसी भी प्रकार से अपने साध्य को सिद्ध करने की एक मात्र तत्परता ही दीखती है। और यह भी एक अभिमान है कि हमारा ही धर्म सर्व-हितकर है, दूसरे धर्म तो लोगों को कु-मार्ग में ले जाने वाले हैं। तभी तो उन्होंने सोचा कि हमें अपने मार्ग की रक्षा किसी भी उपाय से हो, करनी ही चाहिए। एक बार एक राजा ने जैन साधुओं से कहा कि ब्राह्मणों के चरणों में पड़ो, अन्यथा मेरे देश से सभी जैन साधु निकल जाएँ! आचार्य ने अपने साधुओं को एकत्र करके कहा कि जिस-किसी साधु में अपने शासन का प्रभाव बढ़ाने की शक्ति हो, वह सावद्य या निरवद्य जैसे भी हो, आगत कष्ट का निवारण करे। इस पर राजसभा में जाकर एक साधु ने कहा कि जितने भी ब्राह्मण हैं उन सबको आप सभा में एकत्र करें, हम उन्हें नमस्कार करेंगे। जब ब्राह्मण एकत्र हुए, तो उसने कणेर की लता को अभिमंत्रित करके सभी ब्राह्मणों का शिरच्छेद कर दिया; किसी आचार्य के मत से तो राजा का भी मस्तक काट दिया। इस प्रकार प्रवचन की रक्षा और उन्नति की गई। इस कार्य को भी प्रवचन के हितार्थ होने के कारण विशुद्ध माना गया है[1]।

मनुष्य-हत्या जैसे अपराध को भी, जब प्रवचन के कारण विशुद्ध कोटी में माना गया, तब अन्य हिंसा की तो बात ही क्या? अतएव अहिंसा के अन्य अपवादों की चर्चा न करके प्रस्तुत में आहार-सम्बन्धी कुछ अपवादों की चर्चा की जाएगी। इससे पहले यहाँ इस बात की ओर पुनः ध्यान दिला देना आवश्यक है कि यह सब गच्छ-वासियों की ही चर्या है। किन्तु

---

१. 'एवं पवयणत्थे पडिसेवंतो विसुद्धो'—नि० चू० गा० ४८७।

जिन्होंने गच्छ छोड़ कर जिनकल्प स्वीकार कर लिया हो, वे एकाकी निष्ठावान् श्रमण, ऐसा नहीं कर सकते। उन्हें तो उक्त प्रसंगों पर अपनी मृत्यु ही स्वीकार होती थी, किन्तु किसी को कुछ भी अपनी ओर से कष्ट पहुँचाना स्वीकार नहीं था और न वह शास्त्र-विहित ही था। इस प्रकार अहिंसा में पूर्ण निष्ठा रखने वाले श्रमणों की भी कमी नहीं थी। किन्तु जब यह देख लिया जाता कि अन्य समर्थ श्रमण-संघ की रक्षा करने के योग्य हो गये हैं, तभी ऐसे निष्ठावान् श्रमण को संघ से पृथक् होकर विचरण करने की आज्ञा मिल सकती थी, और वह भी जीवन के अन्तिम वर्षों में[1]। तात्पर्य यह है कि जब तक संघ में रहे, संयमी के लिए शासन और संघ की रक्षा करना—आवश्यक कर्तव्य है, और एतदर्थ यथाप्रसंग व्यक्तिगत साधना को गौण भी करना होता है। जब संघ से पूर्णतया पृथक् हो जाए, तभी व्यक्तिगत साधना का चरमविकास किया जा सकता है। अर्थात् फलितार्थ रूप में यह मान लिया गया कि व्यक्तिगत विकास की चरम पराकाष्ठा संघ में रहकर नहीं हो सकती। संघ में तो व्यक्तिगत विकास की एक अमुक मर्यादा है।

यहाँ पर यह भी ध्यान देने की बात है कि व्याख्याकार ने जिन अपवादों का उल्लेख किया है, जिनके आचरण करने पर भी प्रायश्चित्त न लेने की प्रेरणा की है, यदि उन अपवादों को हम सूत्रों के मूल शब्दों में खोजें तो नहीं मिलेंगे। फिर भी शब्द की अपेक्षा अर्थ को ही अधिक महत्त्व देने की मान्यता के आधार पर, व्याख्याकारों ने शब्दों से ऊपर उठकर अपवादों की सृष्टि की है। अपवादों की आज्ञा देते समय कितनी ही बार औचित्य का सीमातीत भंग किया गया है, ऐसा आज के वाचक को अवश्य लगेगा। किन्तु उक्त अपवादों की पृष्ठिभूमि में तत्कालीन संघ की मनःस्थिति का ही चित्रण हमें मिलता है; अतः उन अपवादों का आज के अहिंसक समाज की दृष्टि से नहीं, अपितु तत्कालीन समाज की दृष्टि से ही मूल्यांकन करना चाहिए। संभव है आज के समाज की अहिंसा तत्कालापेक्षया कुछ अधिक सूक्ष्म और सहज हो गई हो; किन्तु उस समय के आचार्यों के लिये वही सब कुछ करना उचित रहा हो। मात्र इसमें आज तक की अहिंसा की प्रगति का ही दर्शन करना चाहिए, न कि यह मान लेना चाहिए कि जीवन में उस समय अहिंसा अधिक थी और आज कम है; अथवा यह भी नहीं समझ लेना चाहिए कि संपूर्ण अहिंसा का परिपालन आज के युग में नहीं हो सकता है, जोकि पूर्व युग में हुआ है। और यह भी नहीं मान लेना चाहिए कि हम आज अहिंसा का चरम विकास जितना सिद्ध कर सके हैं, उस काल में वह विकास उतना नहीं था। भेद वस्तुतः यह है कि आज समुदाय की दृष्टि से भी अहिंसा किस प्रकार उत्तरोत्तर बढ़ सकती है, यह अधिक सोचा जाता है। व्यक्तिगत दृष्टि से तो पूर्वकाल में भी संपूर्ण अहिंसक व्यक्ति का मिलना संभव था, और आज भी मिलना संभव है। किन्तु अहिंसक समाज की रचना किस प्रकार हो सकती है—इस समस्या पर गांधी जी द्वारा उपदिष्ट सत्याग्रह के बाद अधिक विचार होने लगा है—यही नई बात है। समग्र मानव समाज में, युद्ध-शक्ति का निराकरण करके आत्म-शक्ति का साम्राज्य किस प्रकार स्थापित हो—यह आज की समस्या है। और आज के मानव ने अपना केन्द्र बिन्दु,

---

१. बृ० भा० गा० १३५८ से। संघ की उचित व्यवस्था किये बिना जिनकल्पी होने पर प्रायश्चित्त लेना पड़ता था—नि० गा० ४६२६; बृ० गा० १०६३।

व्यक्तिगत अहिंसा से हटाकर प्रस्तुत सामूहिक अहिंसा में स्थिर किया है—यही आज के अहिंसा-विचार की विशेपता है।

आहार और औषध के अपवाद :

अब कुछ आहार-विषयक अपवादों की चर्चा की जाती है। यह विशेपतः इसलिये आवश्यक है कि जैन समाज में आहार के प्रश्न को लेकर वारवार चर्चा उठती है और वह सदैव आज के जैन-समाज के आहार-सम्बन्धी प्रक्रिया को समक्ष रखकर होती है। जैन-समाज ने आहार के विषय में दीर्घकालीन अहिंसा की प्रगति के फलस्वरूप जो पाया है वह उसे प्रारंभकाल में ही प्राप्त था, उक्त मान्यता के आधार पर ही प्रायः प्रस्तुत चर्चा का सूत्रपात होता है। अतएव यह आवश्यक है कि उक्त मान्यता का निराकरण किया जाए और आहार-विषयक सही मान्यता उपस्थित की जाए और आज के समाज की दृष्टि से पूर्वकालीन समाज आहार के विषय में अहिंसा की दृष्टि से कितना पश्चात्पद था—यह भी दिखा दिया जाए। आज का जैन साधु अपवाद की स्थिति में भी मांसाहार ग्रहण करने की कल्पना तक को असह्य समझता है, तो लेने की वात तो दूर ही है। अतएव आज का भिक्षु 'प्राचीनकाल में कभी जैन भिक्षु भी आपवादिक स्थिति में मांस ग्रहण करते थे'—इस तथ्य को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है।

आहार का विचार करते समय दो वातों का विचार करना आवश्यक है। एक तो यह कि कौनसी वस्तु साधु को आहार में लेने योग्य है? अर्थात् शाकाहार या मांसाहार दो में से साधु किसे प्रथम स्थान दे? दूसरी वात यह है कि वह गोचरी या पिण्डैपणा के आधाकर्म वर्जन आदि नियमों को अधिक महत्त्व के समझे या वस्तु को? अर्थात् अहिंसा के पालन की दृष्टि से **"साधु अपने लिये बनी कोई भी चीज, चाहे वह शाकाहार-सम्बन्धी वस्तु हो या मांसाहार-सम्बन्धी, न लें"** इत्यादि नियमों को महत्त्व दे अथवा आहार की वस्तु को?

वस्तु-विचार में यह स्पष्ट है कि साधु के लिये यह उत्सर्ग मार्ग है कि वह मद्य-मांस आदि वस्तुओं को आहार में न ले। अर्थात् उक्त दोषपूर्ण वस्तुओं की गवेपणा न करे और कभी कोई देता हो तो कह दे कि ये वस्तुएँ मेरे लिये अकल्प्य हैं[१]। और यह भी स्पष्ट है कि भिक्षु का उत्सर्ग मार्ग तो यही है कि वह पिण्डैपणा के नियमों का यथावत् पालन करे। अर्थात् अपने लिये वनी कोई भी चीज न ग्रहण करे। तारतम्य का प्रश्न तो अपवाद मार्ग में उपस्थित होता है कि जव अपवाद मार्ग का अवलम्बन करना हो, तव क्या करे? क्या वह वस्तु को महत्व दे या नियमों को? निशीथ में रात्रि भोजन सम्बन्धी अपवादों के वर्णन प्रसंग में जो कहा गया है, वह प्रस्तुत में निर्णायक हो सकता है। अतएव यहाँ उसकी चर्चा की जाती है। कहा गया है कि द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक का मांस हो तो अल्पेन्द्रिय जीवों का मांस लेने में कम दोप है और उत्तरोत्तर अधिकेन्द्रिय जीवों का माँस ग्रहण करने में उत्तरोत्तर अधिक दोप है। जहाँ के लोगों को यह पता हो कि 'जैन श्रमण मांस नहीं लेते' वहाँ आधाकर्म-दूपित अन्य आहार लेने

---

१. दश वै० ५.७३, ७४; गा० ७३ के 'पुग्गल' शब्द का अर्थ 'मांस' है। इसका समर्थन निशीथ-चूर्णि से भी होता है—गा० २३८, २८८, ६१००।

में कम दोष है और मांस लेने में अधिक दोष; क्योंकि परिचित जनों के यहाँ से मांस लेने पर निन्दा होती है। किन्तु जहाँ के लोगों को यह ज्ञान नहीं कि 'जैन श्रमण मांस नहीं खाते', वहाँ मांस का ग्रहण करना अच्छा है और आधाकर्म-दूषित आहार लेना अधिक दोषावह है; क्योंकि आधाकर्मिक आहार लेने में जीवघात है। अतएव ऐसे प्रसंग में सर्वप्रथम द्वीन्द्रिय जीवों का मांस ले; उसके अभाव में क्रमशः त्रीन्द्रिय आदि का। इस विषय में स्वीकृत साधुवेश में ही लेना या वेष वदलकर, इसकी भी चर्चा है[1]। उक्त समग्र चर्चा का सार यह है कि जहाँ अपनी आत्मसाक्षी से ही निर्णय करना है और लोकापवाद का कुछ भी डर नहीं है, वहाँ गोचरी-सम्बन्धी नियमों के पालन का ही अधिक महत्व है। अर्थात् औद्देशिक फलाहार की अपेक्षा मांस लेना, न्यून दोषावह, समझा जाता है—ऐसी स्थिति में साधक की अहिंसा कम दूषित होती है। यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि जबकि फासुग-अचित्त वस्तु मांसादि का सेवन भी अपने बलवीय की वृद्धि निमित्त करना अप्रशस्त है, तो जो आधाकर्मादि दोष से दूषित अविशुद्ध भोजन करता है, उसका तो कहना ही क्या[2]? अर्थात् वह तो अप्रशस्त है ही। इससे यह भी सिद्ध होता है कि मांस को भी फासुग-अचित माना गया है।

इस प्रसंग में निशीथगत विकृति की चर्चा भी उपयोगी सिद्ध होगी। निशीथ सूत्र में कहा गया है कि जो भिक्षु आचार्य तथा उपाध्याय की आज्ञा के बिना विकृत-विगय का सेवन करता है, वह प्रायश्चित्त-भागी होता है (उ० ४. सू० २१)।

निशीथ निर्युक्ति में विकृति की गणना इस प्रकार है—

तेल, घृत, नवनीत—मक्खन, दधि, फाणिय—गुड, मद्य, दूध, मधु, पुग्गल—मांस और चलचल ओगाहिम[3] (गा० १५९२—९३)

योगवाही भिक्षु के लिये अर्थात् शास्त्र पठन के हेतु तपस्या करने वाले के लिये कहा गया है कि जो कठिन शास्त्र न पढ़ता हो, उसे आचार्य की आज्ञा पूर्वक दशों प्रकार की विकृति के सेवन की भजना है। अर्थात् आचार्य जिसकी भी आज्ञा दे, सेवन कर सकता है। किन्तु अपवाद मार्ग में तो कोई भी स्वाध्याय करने वाला किसी भी विकृति का सेवन कर सकता है (नि० गा० १५९९)।

विकृति के विषय में निशीथ में अन्यत्र भी चर्चा है। कहा गया है कि विकृति दो प्रकार की है-(१) संचतिया और (२) असंचतिया। दूध, दधि, मांस और मक्खन—ये असंचतिया विकृति हैं। और किसी के मत से ओगाहिम भी तदन्तर्गत है। शेष विकृति, संचतिया कही गई हैं। और उनमें मधु, मांस और मद्य को अप्रशस्त विकृति भी कहा गया है (नि० चू० गा० ३१६७)। यह भी स्पष्ट किया गया है कि विकृति का सेवन साधक की आत्मा को विकृत बना

---

१. नि० गा० ४३६-३९, ४४३-४४७।

२. नि० चू० गा० ४९९।

३. पकाने के लिये तवे पर प्रथमवार रखा गया तप्त घृत। जिसमें तीन बार कोई वस्तु तली न जाय, तब तक वह विकृत है।

देता है। अतएव उसका वर्जन करना चाहिए (नि० गा० ३१६८)। किन्तु चूर्णिकार ने स्पष्टरूप से अपवादपद में विकृति ग्रहण करने की अनुज्ञा का निर्देश किया है और कहा है कि बाल, वृद्ध, आचार्य तथा दुर्बल संयमी रोग आदि में विकृति का सेवन कर सकते हैं (नि० चू० ३१६८)। भाष्यकार ने कहा है कि मांस आदि गर्हित विगय लेते समय, साधु, सर्वप्रथम इस बात की गर्हा करे कि "यह अकार्य है, क्या करें, इसके बिना रोगी के रोग का शमन नहीं होता।" और उतना ही लिया जाए जितने से कि रोगी का काम चल सके। तथा दातार को भी यह विश्वास हो जाए कि सचमुच रोगी के लिये ही लेते हैं, रस-लोलुपता से नहीं। (नि० गा० ३१७० चूर्णि के साथ)।

सामान्यतः निषिद्ध देश में विहार करने की अनुज्ञा नहीं है, किन्तु यदि कभी अपवाद में विहार करना ही पड़े, तो भिक्षु, वेष बदल कर अपने लिये भोजन बना सकते हैं, दूसरों के यहाँ से पक्व फल ले सकते हैं, और मांस भी ग्रहण कर सकते हैं (नि० चू० गा० ३४३६)। और इसके लिये प्रायश्चित्त-विधि भी बताई गई है (नि० गा० ३४५६-७)।

निशीथ सूत्र (११ ८०) में, यदि भिक्षु मांस-भोजन की लालसा से उपाश्रय बदलता है, तो उसके लिए प्रायश्चित्त का विधान है। किन्तु अपवाद में गीतार्थ साधु संखडी आदि में जाकर मांस का ग्रहण कर सकते हैं (नि० गा० ३४८७)। रोगी के लिये चोरी से या मन्त्र प्रयोग करके वशीकरण से भी अभीप्सित औषधि प्राप्त करना अपवाद मार्ग में उचित माना गया है। (नि० गा० ३४७)। औषधि में हंसतेल जैसी वस्तु लेना भी, जो मांस से भी अधिक पाप जनक है, और वह भी आवश्यकता पड़ने पर चोरी या वशीकरण के द्वारा, अपवाद मार्ग में शामिल है।[1] चूर्णिकार ने हंसतेल बनाने की विधि का जो उल्लेख किया है, उसे पढ़कर तो रोंगटे खड़े हो जाते हैं। हंस को चीर कर, मलमूत्र निकाल कर, अनन्तर उसके पेट को कुछ वस्तुएँ भर कर सी लिया जाता है और फिर पकाकर जो तेल तैयार किया जाता है, वह हंसतेल है (नि० गा० ३४८ की चूर्णि)।

भगवान् महावीर की मूल आज्ञा से संयमी के लिए किसी प्रकार की भी चिकित्सा न करने की थी[2], किन्तु एक बार साधु-संघ में चिकित्सा प्रविष्ट हुई कि उसका अपवाद मार्ग में किस सीमा तक प्रचलन होता गया, यह उक्त दृष्टान्त से स्पष्टतया जाना जा सकता है। साधक मृत्युभय से कितना अधिक त्रस्त था—यह तो इससे सिद्ध ही है; किन्तु अपवाद मार्ग की भी जो अमुक मर्यादा रहनी चाहिए थी, वह भी भग्न हो गई—ऐसा स्पष्ट ही लगता है। एक ओर भिक्षुओं को अपनी अहिंसा और आचरण के उत्कृष्टत्व की धाक जमाये रखनी थी, किन्तु दूसरी ओर उत्कट सहनशील संयमी जीवन रह नहीं गया था। अतएव उक्त अपवादों का आश्रय लिया गया। किन्तु पद पद पर यह डर भी था कि कहीं अनुयायी वर्ग ऐसी असंयम मूलक प्रवृत्तियाँ देखकर श्रद्धाभ्रष्ट न हो जाए और साथ ही यह भी भय रहता था कि विरोधियों के समक्ष जैन साधु-समाज का जो आचरण की उत्कटता का बाहरी आवरण है, वह हटकर अंदर का यथार्थ चित्र न खड़ा हो जाए, ताकि उन्हें जैन शासन की अवहेलना का एक साधन

१. नि० गा० ३४८; ५७२२ चू०।

२. दश वै० ३.४; नि० सू० ३.२८-४०; १३.४२-४५ इत्यादि।

मिल जाए। अतएव अपवाद मार्ग का जो भी अवलंबन लिया जाता था, उसे गुप्त ही रखने का प्रयत्न किया जाता था (नि० चू० गा० ३४५-३४७)। जहाँ सब प्रकार के कष्टों को सहन करने की बात थी, वहाँ सब प्रकार की चिकित्सा करने-कराने की अनुज्ञा मिल गई। यह किसी भी परिस्थितियों में हुआ हो, किन्तु एक बात स्पष्ट है कि 'मनुष्य के लिये अपने जीवन की रक्षा का प्रश्न उपेक्षणीय नहीं है'—यह तथ्य कुछ काल के लिये उत्साह-वश भले ही उपेक्षित रह सकता है, किन्तु गंभीर विचारणा के अनन्तर, अन्ततः मनुष्य को बाध्य होकर उक्त तथ्य को स्वीकार करना ही पड़ता है और कालिदास का 'शरीरमाद्यं खलु धर्म-साधनम्' वाला कथन व्यावहारिक ही नहीं; किन्तु ध्रुव सत्य सिद्ध होता है। अतएव जिस साधु-संघ का यह उत्सर्ग मार्ग हो कि किसी भी प्रकार की चिकित्सा न करना ('तेगिच्छं नाभिनन्देज्जा'—उत्तरा २. ३३); उसे भी रोगावस्था में क्या-क्या साधन जुटाने पड़े और जुटाने में कितनी सावधानी रखनी पड़ी—इसका जो तादृश चित्रण प्रस्तुत ग्रन्थ में है,[1] वह तत्कालीन साधु-संघ की अपने धर्म के प्रति निष्ठा ही नहीं; किन्तु विवश व्यक्ति की व्यग्रता, भय, तथा प्रतिष्ठारक्षार्थ किये जानेवाले प्रयत्न आदि का यथार्थ स्वरूप भी उपस्थित करता है। आज की दृष्टि से देखा जाए, तो यह सब माया जाल सा लगता है और एक प्रकार का दब्बूपन भी दीखता है; किन्तु जिस समय धार्मिक साधकों के समक्ष केवल अपने जीवन मरण का प्रश्न ही नहीं, किन्तु संघ—उच्छेद की विकट समस्या भी थी, उस समय वे अपनी जीवन—भूमिका के अनुसार ही अपना मार्ग तलाश कर सकते थे। अन्य प्रकार से कुछ भी सोचना, संभव है, तब उनके लिये संभव ही नहीं रह गया हो। जीवन में अहिंसा और सत्य की प्रतिष्ठा क्रमशः किस प्रकार की गई, और उसके लिए साधकों को किस-किस प्रकार के भले बुरे मार्ग लेने पड़े—इस तथ्य के अभ्यासियों के लिये प्रस्तुत प्रकरण अत्यन्त महत्व का है। सार यही निकलता है कि रोग को प्रारंभ से ही दबाना चाहिए। उसकी उपेक्षा हानिकारक होती है[2]। शरीर यदि मोक्ष का साधन है, तो आहार शरीर का साधन है। अतएव आहार की उपेक्षा नहीं की जा सकती[3]।

ब्रह्मचर्य की साधना में कठिनाई :

जैन-संघ में भिक्षु और भिक्षुणी—दोनों के लिये स्थान है; किन्तु जिन कल्प में, जो साधना का उत्कट मार्ग है, भिक्षुणियों को स्थान नहीं दिया गया। इसका यह कारण नहीं कि भिक्षुणी, व्यक्तिगतरूप से, उत्कट मार्ग का पालन करने में असमर्थ हैं। किन्तु सामाजिक परिस्थिति से बाध्य होकर ही आचार्यों ने यह निर्णय किया कि साध्वी स्त्री एकान्त में अकेली रहकर साधना नहीं कर सकती। जैनों के जिस सम्प्रदाय ने मात्र जिन कल्प के आचार को ही साध्वाचार माना और स्थविर कल्प के गच्छवास तथा सचेल आचार को नहीं माना; उनके लिये एक ही मार्ग रह गया कि वे स्त्रियों के मोक्ष का भी निषेध करें। अतएव हम देखते हैं कि ईसा की प्रथम शताब्दी के बाद के दिगम्बर ग्रन्थों में स्त्रियों के लिये निर्वाण का निषेध किया गया है। और

---

१. नि० गा० २९७०—३१०४; बृ० भा० गा० १८७१—२००२।

२. नि० गा० ४८०६-७; बृ० गा० ९४७-८।

३. नि० गा० ४१५७-४१६६।

प्राचीन ग्रन्थों की व्याख्याओं में प्रस्तुत निषेध को मूल में से खोजने का असफल प्रयत्न किया गया है।

समुदाय में जहाँ साधु और साध्वी दोनों ही हों, वहाँ ब्रह्मचर्य की साधना कठिनतर हो जाती है, अस्तु साधना में, जहाँ कि निवृत्ति की दृष्टि हो, आचार में विधि की अपेक्षा निषेध को ही अधिक स्थान मिलता है[१]। मानव-स्वभाव का और खास कर मानव की कामवृत्ति का गहरा ज्ञान, गीतार्थ आचार्यों को प्रारंभ से ही था—यह तो नहीं कहा जा सकता। किन्तु जैसे-जैसे संघ बढ़ता गया होगा वैसे-वैसे समस्याएँ उपस्थित होती गई होंगी, और देशकालानुरूप उनका समाधान भी खोजा गया होगा—यही मानना उचित है। अतएव कामवृत्ति के विषय में, जो गहरा चिंतन, प्रस्तुत निशीथ से फलित होता है; उसे दीर्घकालीन अनुभवों का ही निचोड़ मानना चाहिए (नि० उद्देश १. सू० १-६)। सार यही है कि स्त्री और पुरुष परस्पर के अतिपरिचय में नहीं, किन्तु एक दूसरे से अधिकाधिक दूर रहकर ही अपनी ब्रह्मचर्य-साधना में सफल हो सकते हैं। ऐसा होने पर भी यदा कदा सामाजिक और राजकीय परिस्थितिवश साधु और साध्वी-समुदाय को निकट रहने के अवसर भी आ सकते हैं, और एक दूसरे की सहायता करने के प्रसंग भी[२]। ऐसी स्थिति में किस प्रकार की सावधानी वरती जाय-यह एक समस्या थी, जो तत्कालीन गीतार्थों के सामने थी। उक्त समस्या के समाधान की शोध में से ही मनुष्य की कामवृत्ति का गहरा चिंतन करना पड़ा है, और उसके फलस्वरूप संयम-स्वीकार के बाद भी साधक किस प्रकार कामवृत्ति में फँसता है और फिसल जाता है, तथा उसके बचाव के लिये क्या करना उचित है—इन सब बातों का मर्मस्पर्शी चित्रण प्रस्तुत निशीथ में मिलता है। मनुष्य की कामवृत्ति के विविध रूपान्तरों का ज्ञान गीतार्थ आचार्यों को हो गया था, तभी तो वे उनसे बचने के उपाय ढूंढ़ निकालने की दिशा में सजग भाव से प्रयत्नशील थे। कामवृत्ति को वे स्वाभाविक नहीं, किन्तु आगन्तुक मानते थे। अतएव उन्हें कामवृत्ति का सर्वथा क्षय असम्भव नहीं, किन्तु सम्भव लगता था। फलतः वे उसके क्षय के लिये प्रयत्नशील भी थे।

तरुणी और रूपवती स्त्रियाँ भी दीक्षित होती थीं। मनचले युवक उनका पीछा करते थे और उनका शील भंग करने को उद्यत रहते थे[३]। संघ के समक्ष, यह एक विकट समस्या थी। सामान्य तौर से भिक्षुणी के साथ किसी भिक्षु को रहने की मनाई थी। किन्तु जहाँ तरुणी साध्वी के शील की सुरक्षा का प्रश्न होता वहाँ आचार्य भिक्षुओं को स्पष्ट आज्ञा देते थे कि वे भिक्षुणी के साथ रहकर उसके शील की रक्षा करें। रक्षा करते हुए भिक्षु कितनी ही बार उद्दण्ड तरुणों को मार भी डालते थे ; इस प्रसंग का वर्णन सुकुमालिका के कथानक द्वारा

---

१. नि० उद्देश ६; नि० गा० २ ६६ से; नि० उद्देश १७, सू० १५-१२०; नि० उद्देश ४, सू० २३, २४; नि० उद्देश. ७, सू० १-६१; नि० उद्देश ८, सू० १-११। निशीथ के इन सभी सूत्रों में ब्रह्मचर्य भंग-सम्बन्धी, प्रायश्चित की चर्चा है।

२. नि उद्देश ४, सू० २३, २४; नि० गा० १६६६ से; बृ० गा० ३७२१ से नि० गा० १७४५ से; बृ० ३७६८ से। नि० गा० ३७७६ से।

३. राजा गर्दभिल्ल और कालकाचार्य की कथा के लिये, देखो—नि० गा० २८६० चू०।

निशीथ में किया गया है। किन्तु साथ ही इस तथ्य का भी निर्देश कर दिया है कि मरणासन्न स्थिति में भी तरुणी पुरुष-स्पर्श पाते ही किस प्रकार कामविह्वल बन जाती है, और चाहे पुरुष भाई ही क्यों न हो—वह पुरुष-स्पर्श के सुख का किस प्रकार आस्वादन कर लेती है ? (नि० गा० २३५१-५६; बृ० गा० ५२५४-५२५९)। यह कथा ब्रह्मचर्य का पालन कितना कठिन है, इस ओर संकेत करती है।

मैथुन सेवन के कारणों में क्रोध, मात्सर्य, मान, माया, द्वेष, लोभ, राग आदि अनेक कारण होते हैं। और संयमी व्यक्ति किस प्रकार इन कारणों से मैथुन सेवन के लिये प्रेरित होता है—यह उदारणों के साथ निशीथ में निर्दिष्ट है[1]। किन्तु एक बात की ओर विशेष ध्यान दिलाया है कि यद्यपि अब्रह्म सेवन की प्रेरणा उपर्युक्त विविध कारणों से होती हैं; तथापि यह सार्वत्रिक नियम है कि जब तक लोभ-राग-आसक्ति नहीं होती, तब तक अब्रह्मसेवन संभव नहीं। अतएव मैथुन में व्यापक कारण राग है (नि० गा० ३५६)।

भाववेद के साथ में द्रव्यवेद का परिवर्तन होता है या नहीं, यह एक चर्चा का विषय है। इस विषय पर निशीथ के एक प्रसंग से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। किस्सा यह है कि— किसी भिक्षु की रति, जिसके यहाँ वह ठहरा हुआ था, उसकी कन्या में हो गई। प्रसंग पा भिक्षु ने कन्या का शीलभंग किया। मालुम होने पर कन्या के पिता ने, क्रुद्ध होकर, साधु का लिंगछेद कर दिया। अनन्तर उक्त साधु को एक बूढ़ी वेश्या ने अपने यहाँ रखा और उससे वेश्या का कार्य लिया। उक्त घटना के प्रकाश में, आचार्य ने अपना स्पष्ट अभिप्राय व्यक्त किया है कि उस साधु को पुरुष, नपुंसक और स्त्री तीनों ही वेद का उदय हुआ। (नि० गा० ३५९)।

मैथुन सेवन में तारतम्य कई कारणों से होता है। इस दिशा में देव, मनुष्य, तिर्यञ्च के[2] पारस्परिक सम्बधजन्य अनेक विकल्पों का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त प्रतिसेव्य स्वयं हो या उसकी प्रतिमा—अर्थात् चेतन-अचेतन सम्बन्धी विकल्पजाल का वर्णन है। उक्त विकल्पों में जब प्रतिसेवक की मनोवृति के विकल्प भी जुड़ जाते हैं, तब तो विकल्पों का एक जटिल जाल ही बन जाता है। शीलभंग के लिये एक जैसा प्रायश्चित्त नहीं है, किन्तु यथा संभव उक्त विकल्पों से सम्बन्धित तारतम्य के आधार पर ही प्रायश्चित्त का तारतम्य निर्दिष्ट है।[3]

जिस प्रकार अहिंसा, सत्य आदि व्रतों में उत्सर्ग और अपवाद मार्ग है, और इनके अपवादों का सेवन करके प्रायश्चित्त के बिना भी विशुद्धि मानी जाती है; क्या ब्रह्मचर्य के विषय में भी उसी प्रकार उत्सर्ग—अपवाद मार्ग है ? इस प्रश्न का उत्तर आचार्य ने यह दिया है कि अन्य हिंसा आदि बातों में तो दर्प और कल्प अर्थात् रागद्वेषपूर्वक और रागद्वेषरहित

---

१. नि० गा० ३५५ से। साम्प्रदायिक विद्वेष के कारण भिक्षुणियों के ब्रह्मचर्य का खंडन करना— यह घृणित प्रकार भी निर्दिष्ट है—नि० गा० ३५७।

२. सिंहिनी और पुरुष के संपर्क का भी दृष्टान्त दिया गया है—नि० गा० ५१६२ चू०।

३. नि० गा० ३६०-३६२; गा० २१६६ से। गा० ५११३ से; बृ० गा० २४६५ से।

प्रतिसेवना संभव है। किन्तु अब्रह्मचर्य की सेवना रागद्वेष के अभाव में होती ही नहीं। अतएव ब्रह्मचर्य के विषय में अपवाद मार्ग है ही नहीं। अर्थात् ब्रह्मचर्य भंग के लिये यथोचित प्रायश्चित्त ग्रहण किए बिना शुद्धि संभव ही नहीं। कभी-कभी ऐसे प्रसंग भी आ जाते हैं, जबकि संयम जीवन की रक्षा के लिये भी ब्रह्मचर्य भंग करना पड़ता है। तब भी प्रायश्चित्त तो आवश्यक ही है। चाहे वह स्वल्प ही हो, किन्तु बिना प्रायश्चित के शुद्धि नहीं; यह ध्रुव सिद्धान्त है। हिंसा आदि दोषों का सेवन, संयमजीवन के हेतु किया जाए, तो प्रायश्चित्त नहीं होता; किन्तु ब्रह्मचर्य का भंग संयम के लिये भी किया जाए तब भी प्रायश्चित्त आवश्यक है (नि० गा० ३६३-३६५, बृ० ४९४३-४५)।

शीलभंग के विषय में भी किसी विशेष परिस्थति में यतनापूर्वक कल्पिका प्रतिसेवना का होना संभव माना गया है। किन्तु प्रतिसेवक गीतार्थ, यतनाशील तथा कृतयोगी होना चाहिए, और साथ ही ज्ञानादि विशिष्ट कारण भी होने चाहिएँ, तभी वह शीलभंग कर सकता है और निर्दोष भी माना जा सकता है। अन्य आचार्य के मत से यह शर्त भी रखी गई है कि वह रागद्वेष शून्य भी होना चाहिए। किन्तु मूलतत्त्व यही है कि मैथुन की कल्पिका प्रतिसेवना भी बिना राग-द्वेष के संभव नहीं है। अतएव कोई कितनी ही यतनापूर्वक प्रतिसेवना करे, फिर भी शुद्धि के लिए अल्प प्रायश्चित्त तो लेना ही पड़ता है (नि०गा० ३६६-७ बृ०गा० ४९४६-४९४७)।

कभी-कभी ऐसा प्रसंग आ जाता है कि संयमी मनुष्य को या तो मरण स्वीकार करना चाहिए या शीलभंग। ऐसे प्रसंग में जो साधक शीलभंग न करके मरण को स्वीकार करता है, वह शुद्ध है। किन्तु जो संयम के हेतु अपने जीवन की रक्षा करना चाहे, और तदर्थ शीलभंग करे, तो ऐसे व्यक्ति के शीलभंग का तारतम्य विविध प्रकार से होता है। इसका एक निदर्शन निशीथ में दिया है कि राजा के अन्तःपुर में पुत्रेच्छा से किसी साधु को पकड़ कर बंद कर दिया जाए तो कोई मरण स्वीकार कर लेता है, और कोई शीलभंग की ओर प्रवृत्त होता है। किन्तु प्रवृत्त होनेवाले के विविध मनोभावों को लक्ष्य में रखकर प्रायश्चित्त का तारतम्य होता है। यह समग्र प्रकरण सूक्ष्म मनोभावों के विश्लेषण का एक महत्त्वपूर्ण नमूना बन गया है[1]।

शीलभंग करने की इच्छा नहीं है, उधर वासना पर विजय भी संभव नहीं[2]—ऐसी स्थिति में श्रमण या श्रमणी की क्या चिकित्सा की जाए; यह वर्णन भी निशीथ में है। उक्त प्रसंग में संयमरक्षा का ध्येय किस प्रकार कम से कम हानि उठाकर सिद्ध हो सकता है—इसी की ओर दृष्टि रखी गई है। प्रस्तुत समग्र वर्णन को पढ़ने पर अच्छी तरह पता लग जाता है कि ब्रह्मचर्य के जीवन में काम-विजय की साधना करते हुए क्या-क्या कठिइयाँ आती थीं

---

१. नि० गा० ३६८ से; बृ० गा० ४९४९।

२. नि० ५७६-७; बृ० ४९२९-३०; कामवासना बालक में भी संभव है, अतः बालक पुत्र और माता में भी रति की संभावना मानी गयी है। दृष्टान्त के लिये, देखो—गा० ३६९९-३७००। बृ० गा० ५२१९-५२२४।

और उनका निवारण भिक्षु लोग किस तरह करते थे[1]। आज यह चिकित्सा हमें कुछ अटपटी-सी मलूम देती है, किन्तु साधक के समक्ष सदा से ही 'सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पंडितः' की नीति का अधिक मूल्य रहा है।

दीक्षालेनेवाले सभी स्त्री-पुरुष ब्रह्मचर्य की साधना का ध्येय लेकर ही दीक्षित होते हैं—यह पूर्ण तथ्य नहीं। कुछ ऐसे भी होते हैं, जो गृहक्लेश या परस्पर असंतोष आदि के कारण से दीक्षित होते हैं। यदि ऐसे असन्तुष्ट दीक्षित स्त्री-पुरुष कहीं एकान्त पा जाएँ, तो उनमें परस्पर कैसी वातचीत होती है और किस प्रकार उनका पतन होता है—इसका तादृश चित्रण भी निशीथ में है[2]। उसे पढ़कर लेखक की मानस-शास्त्र में कुशलता ज्ञात होती है, और सहसा बौद्ध थेर-थेरी गाथा स्मृतिपट पर आ जाती है। इस तरह के दुर्बल साधकों को ऐसा अवसर ही न मिले, इसकी व्यवस्था भी की गई है।

नपुंसक को दीक्षा देने का निषेध है (नि० गा० ३५०५)। अतएव, आचार्य इस विषय की विविध परीक्षा करते रहे, (नि० गा० ३५६४ से बृ० गा० ५१४० से), किन्तु सावधानी रखने पर भी नपुंसक व्यक्ति संघ में दीक्षित होते ही रहे। ऐसे व्यक्तियों द्वारा संघ और समाज में जो संयम-विराधना होती थी, भाष्यकार और चूर्णिकार ने उसका तादृश चित्रण उपस्थित किया है। वह ऐसा है कि आज पढ़ा भी नहीं जा सकता, तो फिर उसके वर्णन का अवसर तो यहाँ है ही कहाँ। साथ में इतना अवश्य कहना चाहिए कि गीतार्थ आचार्यों ने संघ में अवांछनीय व्यक्ति प्रविष्ट न हो जाएँ, इस ओर पूरा ध्यान दिया है। आधुनिक काल की तरह जिस-किसी को मूंड लेने की प्रवृत्ति नहीं थी—यह भी स्पष्ट होता है।

स्त्री और पुरुष के शारीरिक रचना-भेद के कारण, ब्रह्मचर्य की रक्षा की दृष्टि से, दोनों के नियमों में कहीं-कहीं भेद करना पड़ता है[3]। जिस वस्तु की अनुज्ञा भिक्षु के लिये है, भिक्षुणी के लिये उसका निषेध है। ऐसा तभी हो सकता है, जब कि मार्ग-दर्शक एक-एक वस्तु के विषय में सूक्ष्म निरीक्षण करे और स्वयं सतत जागरूक रहे। निशीथ में ऐसे सूक्ष्म निरीक्षण की कमी नहीं है। सामान्य सी मालूम देने वाली वस्तु में भी ब्रह्मचर्यभंग की संभावना किस प्रकार हो सकती है—इस बात को जाने बिना, निशीथ में जो फलविषयक विधि-निषेध बताये गये हैं, वे कथमपि संभव नहीं थे (नि० गा० ४६०८ से बृ० गा० १०४५ से)।

सार इतना ही है कि ब्रह्मचर्य की साधना, संघ में रहकर, अत्यंत कठिन है। और उक्त कठिनता का ज्ञान स्वयं महावीर को भी था[4]। आगे चलकर परंपरा से इसकी उत्तरोत्तर

---

१. नि० गा० ३७६; ५१६ से; ५८४ से; बृ० ४६३७ से; नि० ६१० से; नि० गा० १७४५ से; बृ० गा० ३७६८ से। नि० गा० २२३० से।

२. नि० गा० १६८३-१६६५; ५६२१; बृ० गा० ३७०७-३७१७। नि० गा० १७८८ से। गुप्तलिपि में किस प्रकार पत्र लिखे जाते थे, उदाहरण के लिये, देखो गा० २२६३-५।

३. साध्वी स्त्री किस प्रकार वस्त्र आदि देकर आकृष्ट की जाती थी, तथा स्त्री-प्रकृति किस प्रकार शीघ्र फिसलने वाली होती है -इसके लिये, देखो—नि० गा० ५०७३-८२।

४. सूत्रकृतांग प्रथम श्रुत स्कंध का चतुर्थ अध्ययन—'इत्थीपरिण्णा' विशेषतः द्रष्टव्य है।

पुष्टि होती गई है। अवश्य ही ब्रह्मचर्य साधना कठिन है, तथापि इस दिशा में मार्ग ढूँढ निकालने के प्रयत्न भी सतत होते रहे हैं। मन जब तक कार्य-शून्य रहता है, तभी तक कामसंकल्प सताते हैं; किन्तु मन को यदि अन्यत्र किसी कार्य में लगा दिया जाय तो काम-विजय सरल हो जाता है—इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को एक गांव की लड़की के दृष्टान्त से बहुत सुन्दर रीति से निरूपित किया है। वह लड़की निठल्ली थी, तो अपने रूप के शृंगार में रत रहती थी। फलतः उसे काम ने सताया। समझदार वृद्धा ने यही किया कि घर के कोठार को संभालने का सारा काम उसके सुपुर्द कर दिया। दिन भर कार्य-व्यस्त रहने के कारण वह रात में भी थकावट अनुभव करने लगी, और उसका वह काम संकल्प कहाँ चला गया, उसे पता ही नहीं लगा। इसी प्रकार, गीतार्थ साधु भी, यदि दिनभर अध्ययन अध्यापन में लगा रहे, तो उसके लिये काम पर विजय पाना अत्यन्त सरल हो जाता है (नि० गा० ५७४ चूर्णि)।

मन्त्र प्रयोग के अपवाद :

मूल निशीथ में मंत्र, तंत्र, ज्योतिष आदि के प्रयोग करने पर प्रायश्चित का विधान है[1]। यह इसलिये आवश्यक था कि उक्त मंत्र आदि आजीविका के साधन रूप से प्रयुक्त होते रहे हैं। एक मात्र भिक्षा-चर्या से ही जीवन यापन का व्रत करने वालों के लिये किसी भी प्रकार के आजीविका-सम्बन्धी साधनों का निषेध होने से मंत्रादि का प्रयोग भी निषिद्ध माना जाय—यह स्वाभाविक है।

किन्तु संघबद्ध साधकों के लिए उक्त निषेध का पालन कठिन हो गया। मंत्र की शक्ति है या नहीं, यह प्रश्न गौण है। उक्त चर्चा का यहाँ केवल इतना ही तात्पर्य है कि जिस साधु-समुदाय में मन्त्र-प्रयोग निषिद्ध माना गया था, उसी समुदाय में उसका प्रयोग परिस्थिति-वश करना पड़ा।

अहिंसा-हिंसा की चर्चा करते समय, इस बात का निर्देश कर आए हैं कि मंत्रप्रयोग से साधुओं द्वारा मनुष्य-हत्या भी की जाती थी। यहाँ उसके अलावा कुछ अन्य बातों का निर्देश करना है।

विद्या-साधना श्मशान में होती थी, और उसमें हिंसा को स्थान था। जैनों के विषय में तो यह प्रसिद्धि रही है कि साधु तो क्या, एक गृहस्थ भी छोटी-सी चींटी तक की हिंसा करने में डरता है। अतएव विद्या-साधन में जैनों की प्रवृत्ति कम ही रही होगी—ऐसा स्पष्ट होता है। फिर भी कुछ लोग विद्या-साधन करते थे, यह निश्चित है।

विद्यासाधना में साधक को असंदिग्ध रहना चाहिए, अन्यथा वह सिद्ध नहीं होती। यह बात भी निशीथ में एक जैन श्रावक के उदाहरण से स्पष्ट की गई है (नि० गा० २४ चूर्णि)।

निशीथ में तालुग्घाडणी = ताला खोल देना, ऊसोवणी = नींद ला देना, अंजनविज्जा = आँख में अंजन लगाकर अदृश्य हो जाना (नि० गा० ३४७ चूर्णि), थंभणीविज्जा = किसी को

---

१. निशीथ में देखो, ११. ६६-६७, गा० ३३३६ से। उ० १३. १७-२७; उ० १३. ६६; १३. ७४-७८।

स्तब्ध कर देना (नि० गा० ४६२ चू०); आभोगणी = भविष्य जान लेना (नि० गा० [illegible] चू०); ओणामणी = वृक्षादि को नीचा कर देना, उण्णामणी = किसी वस्तु को ऊँचा कर देना (नि० गा० १३); माणसी = मनोवांछित प्राप्त करना, (नि० गा० ४०६ चू०), आदि विद्याओं का उल्लेख मिलता है। इन विद्याओं की साधना और प्रयोग का उद्देश्य विरोधी को परास्त करके भक्तपान, औषधि, वसति आदि प्राप्त करना तथा राजा आदि को अनुकूल करना, आदि है। मन्त्रों का प्रयोग वशीकरण, उच्चाटन, अभिचार और अपहृत वस्तु की पुनः प्राप्ति आदि के लिये होता था (नि० गा० ३४७, ४६०, १५७६, १६७,)। औषधि आदि के लिये धाउवायप्पओग = चाँदी-सोना आदि धातुओं का निर्माण करने के प्रयोग (नि० गा० ३६८, १५७६) किये जाते थे। निमित्त (निमित्त सम्बन्धी प्रायश्चित्त के लिये देखो, नि० सू० १.७-८) का प्रयोग करके राजा आदि को वश किया जाता था तथा किस आकृति के पात्र रखना—इसका निर्णय भी निमित्त से किया जाता था (नि० गा० ४६०, १५७६, ७५३)। अंगुष्ठ प्रश्न, स्वप्न प्रश्न आदि प्रश्नविद्या के प्रयोग भी साधु करने लग गये थे (नि० गा० १३६६)।

चोरी गई वस्तु की प्राप्ति तथा आहार और निवास पाने के लिए भी विद्या, मंत्र, चूर्ण, निमित्त आदि का प्रयोग होता था (नि० गा० ८६४, १३५८, १३६६, २३६३)। जोणीपाहुड-नामक शास्त्र के आधार पर अश्व आदि के निर्माण करने का भी उल्लेख है (नि० गा० १८०४)। यदि किसी राजकुमार को साधु बना लेने पर राज-भय उपस्थित हो जाए, तो राजकुमार को अन्तर्धान करने के लिये मंत्र, अंजन आदि के उपयोग का विधान है। और यदि ऐसा संभव न हो तो राजकुमार को साध्वी के उपाश्रय में भी छिपाया जा सकता है—(नि० गा० १३४३ चू०)।

अपनी बहन को छुड़ाने के लिये कालक आचार्य शकों को लाये और गर्दभीविद्या का प्रयोग करके शकों द्वारा गर्दभिल्ल को हराया—यह कथा भी, जो अब काफी प्रसिद्ध है, निशीथ में दी गई है (नि० गा० २८६० चू०)। संयमी पुरुषों के लिये भ्रष्ट साधुओं तथा गृहस्थों की सेवा निषिद्ध है; किन्तु मन्त्र तन्त्र आदि सीखने के लिये अपवाद मार्ग है कि साधु, पासत्था और गृहस्थ की भी सेवा कर सकता है (नि० गा० ३१० चू०)

कभी-कभी निमित्त प्रयोग करने वालों की परीक्षा भी ली जाती थी। कुछ सच्चे निमित्त-शास्त्री उसमें उत्तीर्ण होते थे। चूर्णि में इसकी एक रोचक कथा है। किन्तु यह स्वीकार किया गया है कि छद्मस्थ सदैव सच्चा निमित्त नहीं बता सकता और उसके दुर्व्याख्यान होने की सभावना भी है। (नि० गा० ४४०५-८) अतएव साधु निमित्त विद्या का प्रयोग न करे।

सांस्कृतिक सामग्री :

निशीथ सूत्र और उसकी टीकानुटीकाओं में राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि विविध विषयों की बहुमूल्य सामग्री बिखरी हुई मिलती है[1]। उसका समग्र भाव से निरूपण करना, तो यहाँ इष्ट नहीं है। केवल कुछ ही विषयों का निर्देश करना है, जिससे कि विद्वानों का ध्यान इस ग्रन्थ की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हो सके।

---

१. प्रस्तुत सामग्री का संकलन निशीथ के परिशिष्ट बनने के पहले ही किया गया है। [illegible] भाग का परिशिष्ट मेरे समक्ष है। अतएव यहाँ कुछ ही बातों का निर्देश संभव है।

शिकायत की जाने पर, राजा ने, पुत्र को दण्ड न देकर उलटा यह कहा कि क्या मेरा पुत्र तुम्हारा दामाद बनने योग्य नहीं ? (नि० गा० ३५७५)। एक प्रसंग में इस प्रथा का भी उल्लेख है कि यदि राजा राजनीति से अनभिज्ञ हो, व्यसनी हो, अन्तःपुर में ही पड़ा रहता हो, तो उसे गद्दी से उतार कर दूसरा राजा स्थापित कर देना चाहिए। (नि० गा० ४७९८) कालकाचार्य ने शकराजा को बुलाकर एक ऐसे ही अत्याचारी राजा गर्दभिल्ल को गद्दी से उतार दिया था (नि० गा० २८६०)। उक्त कथा में कालक आचार्य की बहन को उठा ले जाने की बात है। एक ऐसा भी उल्लेख है कि यदि कोई विरोधी राजा किसी राजा के आदरणीय प्रिय आचार्य को उठा ले जाए तो ऐसी दशा में शिष्य का क्या कर्तव्य है ? इससे पता चलता है कि जैन संघ ने जब राज्याश्रय लिया, तब इस प्रकार के प्रसंग भी उपस्थित होने लगे थे[1]। राजा आदि महर्द्धिकों का महत्व साधुसंघ में भी माना गया है। अतएव साध्वीसंघ के ऊपर आपत्ति आने पर यदि कोई राजा दीक्षित साधू हुआ हो तो वह रक्षा करने के लिए साध्वी के उपाश्रय में जाकर ठहर सकता था (नि० गा० १७३५), जबकि दूसरों के लिये ऐसा करना निषिद्ध है।

मथुरा में यवनों के अस्तित्व का उल्लेख है (नि० गा० ३६८९)।

जब परचक्र का भय उपस्थित होने वाला हो, तब श्रमण को अपना स्थान परिवर्तित कर लेना चाहिए; अन्यथा प्रायश्चित्त करना पड़ता है। यह इसलिये आवश्यक था कि अव्यवस्था में धर्मपालन संभव नहीं माना गया (नि० गा० २३५७)। वैराज्य शब्द के अनेक अर्थों के लिए गा० ३३६०-६३ देखनी चाहिएँ। प्राचीनकाल में भी हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक, भारत, एक देश माना जाता था; किन्तु साथ ही 'देश' शब्द की संकुचित व्याख्या भी थी। यही कारण था कि सिन्धु को भी देश कहा और कोंकण को भी देश कहा (नि० गा० ४२८)। जन्म के प्रदेश को देश और उससे बाह्य को परदेश कहा गया है। तथा भारत के विभिन्न जनपदों के आचारों को देशकथा के अन्तर्गत माना गया है (नि० गा० १२५)

देशों में कच्छ (गा० ३८६,), सिन्धु (गा० ३८६, ४२८, १२२५, ३३३७, ५०००), सौराष्ट्र (गा० ६०, ३८६, २७७८, ४८०२)[2], कोसल (गा० १२६, २००), लाट (गा० १२६, २७७८,), मालव (गा० ८७४, १०३०, ३३४७,), कोंकण (गा० १२६, २८९, ४२८,), कुरुक्षेत्र (१०२६), मगध (गा० ३३४७, ५७३३), महाराष्ट्र (१२६, ३३३७,) उत्तरापथ (१२६, २४७, ४५५), दक्षिणापथ (२७७८, ५०२८), रिणकंठ (सिंधदेश की ऊसरभूमि) (गा० १२२५), टक्क (८७४), दमिल (३३३७, ५७३१) गोल्लय (३३३७), कुडुक्क (३३३७), कंरडुक (३३ ७) ब्रह्मद्वीप, (४४७०), आभीर विषय (४४७०), तोसली (४९२३, ४९२४), सगविसय (५७३१), थूणा (५७३३) कुणाल (५७३३) इत्यादि का उल्लेख विविध प्रसंगों में है।

नगरियों में आनंदपुर का नाम आया है। आनंदपुर का दूसरा नाम अक्कत्थली भी था—ऐसा प्रतीत होता है (गा० ३३४४ चू०)। अयोध्या का दूसरा नाम साकेत भी है (गा० ३३४७)। मथुरानगरी में जैन साधुओं का विहार प्राचीन काल से होता आ रहा था। (गा० १२, १११६,

---

१. नि० गा० ३३८८-८९; बृ० गा० २७८९-९० ।

२. कोहय (पाठांतर–कोठय) मंडलं छन्नउइं सुरट्ठा (गा० ४८०२)। बृ० गा० ६४३ ।

३६८६, ५९९३)। आर्यमंगू—जैसे आचार्य का उल्लेख है कि वे जब मथुरा में आये, तब श्रावकों ने उनकी हर प्रकार से सेवा की थी। यह भी उल्लेख है कि स्तेनभय होने पर एक साधु ने सिंहनाद किया था। अवन्ती जनपद और उज्जेणी का उल्लेख भी ध्यान देने योग्य है (गा० १६, ३२, २९४-६, ५९९३, चू०)। आषाढ़भूति, धूर्ताख्यान आदि कथानकों का स्थान उज्जेणी नगरी है। कोसंबी नगरी (गा० ५७४४, ५७३३) तथा चन्द्रगुप्त की राजधानी पाटलिपुत्र का भी उल्लेख है। पाटलिपुत्र का दूसरा नाम कुसुम्पुर भी है (गा० ४४६३)। सोपारक बंदरगाह का भी उल्लेख है (५१५६)। वहाँ णिगम अर्थात् वणिक् जनों के लिये कर नहीं था। एक बार राजा ने नया कर लगाना चाहा, तो वणिकों ने मर जाना पसंद किया; किन्तु कर देना स्वीकार नहीं किया (गा० ५१५६-७)। दशपुर नगर में आर्यरक्षितने वर्षावास किया था (४५३६) और वहीं मात्रक की अनुज्ञा दी थी। क्षितिप्रतिष्ठित (६०७६) नगर के जितशत्रुराजा ने घोषणा की कि म्लेच्छों का आक्रमण हो रहा है, अतः प्रजा दुर्ग का आश्रय ले ले। दंतपुर (गा० ६५७५), गिरिफुल्लिगा (गा० ४४६६), आदि नगरियों का उल्लेख है।

जनपदों के जीवन-वैविध्य की ओर लेखक ने इसलिये ध्यान दिलाया है कि कभी-कभी इस प्रकार के वैविध्य को लेकर लोग आपस में लड़ने लग जाते हैं, जो उचित नहीं है। अतएव देश-कथा का परित्याग करना चाहिए (नि० गा० १२७)।

जनपदों के जीवन-वैविध्य का निर्देश करते हुए जिन बातों का उल्लेख किया है, उनमें से कुछ का यहाँ निर्देश किया जाता है :—लाटदेश में मामा की पुत्री के साथ विवाह हो सकता है, किन्तु मौसी की पुत्री के साथ नहीं। कोसल देश में आहारभूमि को सर्व-प्रथम पानी से लिप्त करते हैं, उस पर पद्मपत्र बिछाते हैं फिर पुष्पपूजा करते हैं, तदनन्तर करोडग, कट्टोरग, मंकुय, सिप्पी—आदि पात्र रखते हैं। भोजन की विधि में कोंकण में प्रथम पेया होता है, और उत्तरापथ में प्रथम सत्तु। लाट में जिसे 'कच्छ' कहा जाता है, महाराष्ट्र में उसे 'भोयड़ा' कहते हैं। भोयड़ा को स्त्रियाँ बचपन से ही बाँधती हैं और गर्भधारण करने के बाद उसे वर्जित करती हैं। वर्जन भी तब होता है, जबकि स्वजनों के संमिलन के बाद उसे पट दिया जाता है (गा० १२६ चूर्णि)। कोसल में शाल्योदन को नष्ट हो जाने के भय से शीतजल में छोड़ दिया जाता था (गा० २००)। उत्तरापथ में गर्मी अत्यन्त अधिक होती है, अतएव किवाड खुले रखने पड़ते हैं—(गा० २४७)। उत्तरापथ में वर्षा भी सतत होती है (२८०)। सिंधु देश का पुरुष तपस्या करने में समर्थ नहीं होता, किन्तु कोंकण देश का पुरुष तपस्या करने में अधिक सशक्त होता है (४२८)। टक्क मालव और सिन्धु देश के लोग स्वभाव से ही परुष वचन (कठोर) बोलने वाले होते हैं। (गा० ८७४) महाराष्ट्र में मद्य की दूकानों पर ध्वज बाँध दिया जाता था, ताकि भिक्षु लोग दूर से ही समझ जाएँ कि यहाँ भिक्षार्थ नहीं जाना है (११५८)। णिल्लेव जाति अन्यत्र घृणित मानी है, किन्तु सिंध में नहीं (१६१८)। महाराष्ट्र में स्त्री के लिये माउगाम=मातृग्राम शब्द प्रयुक्त होता है (निशीथ उ० ६, सू० १ चू०) महाराष्ट्र में पुरुष के चिह्न को बांधा जाता है (गा० ५२१)। लाट में 'इक्कड' नामक वनस्पति प्रसिद्ध है। संभवतः यह सेमर (गुजराती-आकडा) है (गा० ८८७)। पूर्व देश से विक्रय के लिये लाया हुआ वस्त्र लाट में बहुमूल्य हो जाता है (गा० ९५१)। सौराष्ट्र में 'कांग' नामक धान्य सुलभ है (१२०४)।

लाट और सौराष्ट्र या दक्षिणापथ में कौन प्रधान है ; इस विषय को लेकर लोग विवाद करते थे (गा० २७७८)। महाराष्ट्र में 'श्रमणपूजा' नामक एक विशेष उत्सव प्रचलित था (३१५३)। मगध में प्रस्थ को कुडव कहते हैं (गा० ५८६१)। दक्षिणापथ में आठ कुडव-प्रमाण एक मण्डक पकाया जाता है (३४०३)[1]। दक्षिण पथ में लोहकार, कल्लाल जुंगित कुल हैं जब कि अन्यत्र नहीं। लाट में णड, वरुंड, चम्मकार आदि जुंगित हैं (५७६०)। इत्यादि।

वस्त्र के मूल्य की चर्चा में कहा गया है कि जघन्य मूल्य १८ 'रूपक' और उत्कृष्ट मूल्य शतसहस्र 'रूपक' है—(नि० गा० ६५७; बृ० गा० ३८९०)। उस समय रूपक अर्थात् चांदी की कितने हो प्रकार की मुद्राएँ प्रचलित थीं, अतएव उनका तारतम्य दिखाना आवश्यक हो गया था। प्रस्तुत में, ये मुद्राएँ किस प्रदेश में प्रचलित थीं—यह अनुमान से जाना जा सकता है। मेरा अनुमान है कि ये मुद्राएँ उस समय सौराष्ट्र-गुजरात में प्रचलित रही होंगी; क्योंकि उत्तरापथ और दक्षिणापथ की मुद्राएँ अपने स्वयं के प्रदेश में उत्तरापथक या दक्षिणापथक या पाटिल-पुत्रक आदि नाम से नहीं पहचानी जा सकती। ये नाम अन्यत्र जाकर ही प्राप्त हो सकते हैं। उन सभी प्रचलित 'रूपक' मुद्राओं का तारतम्य निम्नानुसार दिखाया गया है :

१ रूवग (रूपक) = १ साभरक[2] (साहरक) अथवा दीविच्चग या दीविच्चिक (दीवत्यक)

१ उत्तरापथक = २ साभरक या २ दीविच्चग

१ पालिपुत्रक (कुसुमपुरग) = २ उत्तरापथक
= ४ साभरक
= २ नेलग्रो[3]
= ४ दक्षिणापथक[4]

वैद्य को दी जाने वाली फीस की चर्चा के प्रसंग में भी मुद्राओं के विषय में विशेष जानकारी प्राप्त होती है। वह इस प्रकार है—

'कौड़ी' (कपर्दक) जो उस समय मुद्रा के रूप में प्रचलित थी। उसे 'कवड्डग' या 'कवड्डग' कहते थे। ताँबे की बनी मुद्रा या 'णाणक' के विषय में कहा गया है कि वह दक्षिणापथ में 'काकिणी' नाम से प्रसिद्ध है। चाँदी के 'नाणक' को भिल्लमाल में चम्मलात (?) कहते हैं; बृहद् भाष्य की टीका में इसे 'द्रम्म' कहा है। सुवर्ण 'नाणक' को पूर्व देश में दीणार' कहते हैं। पूर्व देश में एक अन्य प्रकार का नाणक भी प्रचलित था, जो 'केवडिय' कहलाता था। यह किस

---

१. बृ० गा० २८५५ में व्याख्या-सम्बन्धी थोड़ा भेद है।

२. सौराष्ट्र के दक्षिण समुद्र में एक योजन दूर 'दीव' (द्वीप) था, वहाँ की मुद्रा —(गा० ६५८ चू०) आज भी यह प्रदेश इसी नाम से प्रसिद्ध है।

३. कांचीपुरी में प्रचलित मुद्रा।

४. नि० गा० ६५८-५९ ; बृ० ३८९१-९२।

धातु से बनता था—यह स्पष्ट नहीं है; किन्तु इसे सुवर्णमुद्रा से भिन्न रखा है और कहा गया है कि यह 'केवडिय' नाणक पूर्व देश में 'केतरात' (बृ० टी० 'केतरा') कहा जाता है[1]।

'दीणार' के विषय में यह भी सूचना मिलती है कि एक 'मयूरांक' नामक राजा था। उसने अपने चित्र को अंकित कर दीणार का प्रचलन किया था 'मयूरंको णाम राया। तेण मयूरंकेण अंकिता दीणारा आइणाविआ।' —नि० गा० ४३१६ चू०। भाष्य में उसे 'मोरणिव' कहा गया है।

राजा और धनिकों के यहाँ बच्चों को पालने के लिये धातृयाँ रखी जाती थीं। भिक्षु लोग किस प्रकार विभिन्न धाइयों की निन्दा या प्रशंसा करके अपना काम बनाते थे—इसका रोचक वर्णन निशीथ भाष्य में है। विभिन्न कार्यों के लिये नियुक्त पाँच प्रकार की धातृमाताओं का वर्णन भी कम रोचक नहीं है। यह प्रकरण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है (नि० गा० ४३७५-९३)।

प्रातः काल होते ही लोग अपने-अपने काम में लगते हैं—इसका वर्णन करते हुए लिखा है :—लोग पानी के लिये जाते हैं, गायों और शकटों का गमनागमन शुरू हो जाता है, वणिक कच्छ लगाकर व्यापार शुरू कर देता है, लुहार अग्नि जलाने लग जाता है, कुटुम्बी लोग खेत में जाते हैं. मच्छीमार मत्स्य पकड़ने के लिये चल देते हैं, खट्टिक भैंसे को लकड़ी से कूटने लग जाता है, कुछ कुत्तों को भगाते हैं, चोर धीरे से सरकने लग जाते हैं, माली टोकरी लेकर बगीचे में जाता है, पारदारिक चुपके से चल देता है, पथिक अपना रास्ता नापने लग जाते हैं और यांत्रिक अपने यंत्र चला देते हैं—(नि० गा० ५२२ चू०)

शृंगार-सामग्री में नानाप्रकार की मालाओं का (उ० ७. सू० १ से उ० १७. सू० ३-५) तथा विविध अलंकारों का (उ० ७, सू० ७; उ० १७. सू० ६) परिगणन निशीथ मूल में ही किया गया है। तांबूल में संखचुन्न, पुगफल, खदिर, कप्पूर, जाइपत्तिया—ये पाँच चीजें डालकर उसे सुस्वादु बनाया जाता था (गा० ३९९३ चू०)।

नाना प्रकार के वाद्यों की सूची भी निशीथ (उ० १७. सू० १३५-८) में है। देशी और परदेशी वस्त्रों की सूची, तथा चर्मवस्त्रों की केवल सूची ही नहीं, अपितु वस्त्रों के मूल्य की चर्चा भी विस्तार से की गई है (नि० उ० २. सू० २३; उ० १७. सू० १२; गा० ७५९ से; उ० ७. सू० ७ से)।

वस्त्रों को विविध प्रकार से सींया जाता था, इसका वर्णन भी दिया गया है—(नि० गा० ७८२)।

नाना प्रकार के जूतों का रोचक वर्णन भी निशीथ में उपलब्ध होता है। उसे देखकर ऐसा लगता है—मानो लेखक की दृष्टि से जो भी वस्तु गुजरी, उसका यथार्थ चित्र खड़ा कर देने में वह पूर्णतः समर्थ है (नि० गा० ९१४ से)।

सेमर की रूई से भरे हुए तकिये को 'तूली' कहते हैं। रूई से भरा हुआ, जो मस्तक के नीचे रखा जाता है, वह 'उपधान' कहा जाता है। उपधान के ऊपर गंडप्रदेश में रखने के

---

१. नि० गा० ३०७० चू० ; बृ० गा० १९९९।

लिये 'उपधानिका', घुटनों के लिये 'आलिंगणी', तथा चर्म वस्त्रकृत और रूई से पूर्ण उपधान-विशेष को 'मसूरक' कहा जाता है (नि० गा० ४००१)।

कुम्भकार की पाँच प्रकार की शालाओं का वर्णन है– जहाँ भांड बेचे जाएँ वह पणियशाला, जहाँ भांड सुरक्षित रखे जाएँ वह भंडसाला, जहां कुम्भकार भांड बनाता है वह कम्मसाला, जहाँ पकाये जाते हैं वह पयणसाला (पचनशाला), और जहाँ वह अपना इन्धन एकत्र रखता है वह इंधणशाला है (नि० गा० ५३९१)।

इसी प्रकार बहुत से अन्य शब्दों की व्याख्या भी दी गई है। जैसे—जहाँ लोग उजाणी के लिये जाते हैं, या जो शहर के नजदीक का स्थान है वह उज्जाण-उद्यान कहलाता है। जो राजा के निर्गमन का स्थान हो वह णिज्जाणिया, जो नगर से बाहर निकलने का स्थान हो वह 'णिज्जाण' होता है। उज्जाण और णिज्जाण में बने हुए गृह क्रमशः उज्जाणगिह और णिज्जाणगिह कहलाते हैं। नगर के प्राकार में 'अट्टालग' होता है। प्राकार के नीचे आधे हाथ में बने रथमार्ग को 'चरिया' और बलानक को 'द्वार' कहते हैं। प्राकार के दो द्वारों के बीच एक 'गोपुर' होता है। नीचे से विशाल किन्तु ऊपर-ऊपर संवर्धित जो हो, वह 'कूडागार' है। धान्य रखने का स्थान 'कोट्ठागार' (कोठा) कहा जाता है। दर्भ आदि तृण रखने का स्थान, जो नीचे की ओर खुला रहता है, 'तणसाला' है। बीच में दीवालें न हों तो 'साला' और दीवालें हों तो 'गिह' होता है। अश्वादि के लिये 'शाला' और 'गिह', दोनों का प्रबन्ध होता था। इस प्रकार निवास-सम्बन्धी अनेक तथ्य निशीथ से ज्ञात होते हैं (नि० उ० ८. सू० २ से तथा चूर्णि)। 'मडग गिह'—'मृतकगृह' का भी उल्लेख है। म्लेच्छ लोग मृतक को जलाते नहीं, किन्तु घर के भीतर रखते हैं। उस घर का नाम 'मडगगिह' है। मृतक को जलाने के बाद जब तक उसकी राख का पुंज नहीं बनाया जाता, तब तक वह 'मडगछार' है। मृतक के ऊपर ईंटों की चिता बनाना, यह 'मडगथूभ' या 'विचग' है। श्मशान में जहाँ मृतक लाकर रखा जाता है वह 'मडासय'— मृताश्रय है। मृतक के ऊपर बनाया गया देवकुल 'लेण' है (नि० उ० ३ सू० ७२; गा० १५३५, १५३६)।

धार्मिक विश्वासों के कारण नाना प्रकार के गिरिपतन आदि के रूप में किए जाने वाले बालमरणों का भी विस्तृत वर्णन मिलता है—गा० ३८०२ से।

निवासस्थान को कई प्रकार से संस्कृत किया जाता था—जैसे कि सस्थापन = गृह के किसी एक देश को गिरने से रोकना, लिंपन = गोबर आदि से लीपना, परिकर्म = गृह-भूमि का समीकरण, शीतकाल में द्वार को सँकड़े कर देना, गरमी के दिनों में चौड़े कर देना, वर्षा ऋतु में पानी जाने का रस्ता बनाना, इत्यादि विविध प्रक्रियाओं का वर्णन अतिविस्तृत रूप से दिया हुआ है—गा० २०५२ से।

विविध[1] उत्सवों में—तीर्थंकरों की प्रतिमा की स्नानपूजा तथा रथयात्रा का (गा० ११६४) निर्देश है। ये उत्सव वैशाख मास में होते थे (गा० २०२९)। भाद्र शुक्ला पंचमी के दिन जैनों का 'पर्युषण' और सर्वसाधारण का 'इन्दमह' दोनों उत्सव एक साथ ही होने के कारण,

---

१. नि० उ० १२. सू० १६, गा० ४१३९।

राजा के अनुरोध से कालकाचार्य ने चतुर्थी को पर्युषण किया। तथा महाराष्ट्र में उसी दिन को 'समणपूया' का उत्सव शुरू हुआ—यह ऐतिहासिक तथ्य बड़े महत्व का है (गा० ३१५३ चू०)। गिरिफुल्लिगा नगरी में इट्टगाछण = इट्टगा उत्सव होता था[1]। इट्टगा एक खाद्य पदार्थ है। उत्सव वाले दिन वह विशेष रूप से बनता था। एक श्रमण ने किस प्रकार तरकीब से इट्टगा प्राप्त की, इस सम्बन्ध में एक मनोवैज्ञानिक-साथ ही रोचक कथा निशीथ में दी हुई है (गा० ४४४६-५४)।

वाद्य, नृत्य तथा नाट्य के विविध प्रकारों का भी निर्देश है (५१००-१)।

भगवान् महावीर के समय में जैन धर्म में जातिवाद को प्रश्रय नहीं मिला था। हरिकेश जैसे चांडाल भी साधु होकर बहुमान प्राप्त करते थे। किन्तु निशीथ मूल तथा टीकोपटीकाओं के पढ़ने से प्रतीत होता है कि जैन श्रमणों ने जातिवाद को पुनः अपना लिया है। निशीथ सूत्र में ठवणाकुल अथवा अभोज्यकुल में भिक्षा लेने के लिये जाने का निषेध है (नि० सू० ४. २२)। इसी प्रकार दुगुंछित कुल से संपर्क का भी निषेध है (नि० सू० १६. २७-३२)। कर्म, शिल्प और जाति से ठवणाकुल तीन प्रकार के हैं (१) कर्म के कारण—ण्हाणिया (नापित), सोहका = शोधका (धोबी ?), मोरपोसक (मयूरपोषक); (२) शिल्प के कारण—हेट्ठण्हाविता, तेरिमा, पयकर, णिल्लेवा; (३) जाति के कारण—पाण (चांडाल), डोम्ब (डोम), मोग्त्थिय। ये सभी जुंगित-दुगुंछित-जुगुप्सित कहे गये हैं (नि० गा० १६१८)।

लोकानुसरण के कारण ही लोक में हीन समझे जाने वाले कुलों में भिक्षा त्याज्य समझी गई है। अन्यथा लोक में जैन शासन की निन्दा होती है और जैन श्रमण भी कापालिक की तरह जुगुप्सित समझे जाते हैं[2]। परन्तु, इसका यह अर्थ नहीं कि जैन श्रमणों में ब्राह्मण एवं क्षत्रिय ही दीक्षित होते थे। ऐसे भी उदाहरण हैं, जिनमें कुम्भकार, कुटुम्बी और आभीर को भी दीक्षा दी गई है (नि० गा० १५, १३६, १३८)। धर्म के क्षेत्र में जाति का नहीं, किन्तु भाव का अधिक महत्व है—इस तथ्य को शिवभक्त पुलिंद और एक ब्राह्मण की कथा के द्वारा प्रकट किया गया है (नि० गा० १४)।

भाष्य में शबर और पुलिंद, जो प्रायः नग्न रहते थे और निर्लज्ज थे, उनका आर्यों को देखकर कुतूहल और तज्जन्य दोषों की ओर संकेत है (नि० गा० ५३१९)।

जुंगितकुल के व्यक्ति को दीक्षा देने का भी निषेध है। इस प्रसंग में जुंगित के चार प्रकार बताये गये हैं। पूर्वोक्त तीन जुंगितों के अतिरिक्त शरीर-जुंगित भी गिना गया है[3]।

---

१. छण और उत्सव में यह भेद है कि जिसमें मुख्य रूप से विशिष्ट भोजन सामग्री बनती हैं वह छण है। तथा जिसमें भोजन के उपरांत लोग अलंकृत होकर, उद्यान आदि में जाकर, मित्रों के साथ क्रीड़ा आदि करते हैं, वह उत्सव है (गा० ५२७९ चू०)।

२. नि० गा० १६२२-२८, अस्वाध्याय की मान्यता में भी लोकानुसरण की ही दृष्टि मुख्य रही है—गा० ६१७१-७९।

३. नि० गा० ३७०६, हस्त पादादि की विकलता आदि के कारण शरीर-जुंगित होता है—गा० ३७०९।

जाति-जुंगित में कोलिग जाति-विशेष णेक्कार का और वरुड़ का समावेश किया है (नि० गा० ३७०७)। चूर्णिकार ने मतान्तर का निर्देश किया है, जिसके अनुसार लोहार, हरिएस(चांडाल), मेया, पाणा, आगासवासि, डोम्ब, वरुड (सूप आदि बनाने वाले), तंतिवरत्ता, उवलित्ता-ये सब जुंगित जाति हैं (नि० गा० ३७०७ चू०)। भाष्यकार ने कम्म-जुंगित में और भी कई जातियों का समावेश किया है—पोषक (स्त्री. मयूर और कुक्कुट के पोषक—चूर्णि), संपरा (ण्हाविगा और सोधगा—चू०), नट, लंख (बांस पर नाचने वाले—चू०), वाह (व्याध) (मृगलुब्धक, वागुरिया, सुगकारगा—चू०), सोगरिया (शौकरिक) (खट्टिका—चू०), मच्छिगा (माछीमार), (नि० गा० ३७०८)।

ये जुंगित यदि महाजन के साथ या ब्राह्मण के साथ भोजन करने लग जाएँ, और शिल्प तथा कर्म-जुंगित यदि अपना धंधा छोड़ दें, तो दीक्षित हो सकते हैं। अतएव इन्हें इत्वरिक जुंगित कहा गया है। (नि० गा० ३७११, १६१८)।

प्रसंगत: इन जातियों का भी उल्लेख है—भड, णट्ट, चट्ट, मेंठ, आरामिया, सोल्ल, घोड, गोवाल, चक्किय, जंति और खरग (नि० गा० ३५८५ चू०)। ये सब भी हीन कुल ही माने जा रहे थे। अन्यत्र णड, वरुड, छिंपग, चम्मार, और डम्ब का उल्लेख है—गा० ६२९४ चू०।

मालवक स्तेनों (चोरों) का बार बार उल्लेख है। उन्हें मालवक नामक पर्वत के निवासी बताया गया है—गा० १३३५।

जाति का सम्बन्ध माता से है और कुल का सम्बन्ध पिता से है। जाति और कुलों के अपने आजीविका-सम्बन्धी साधन भी नियत थे। कोई कर्म से, तो कोई शिल्प से आजीविका चलाते थे। कर्म वह है, जो विना गुरु के सीखा जा सके—जैसे, लकड़ी एकत्र करके आजीविका चलाना। और शिल्प वह है, जिसे गुरुपरंपरा से ही सीखना होता है—जैसे, गृह-निर्माण आदि। इसी प्रकार मल्ल आदि गणों की आजीविका के साधन भी अपने-अपने गणों के अनुसार होते थे। (नि० गा० ४४१२-१६)।

व्यापारी वर्ग के दो प्रकार निर्दिष्ट हैं—जो दूकान रख कर व्यापार करे, वह 'वणि'; और जो बिना दूकान के व्यापार करे, वह 'विवणि'—नि० गा० ५७५० चू०।

'सार्थ' के पाँच प्रकार बताये गये हैं[1] :—

(१) 'भंडी' गाडियाँ लेकर चलने वाला।

(२) 'बहिलग' बैल आदि भारवाही पशुओं को लेकर चलने वाला। इसमें ऊँट, हाथी और घोड़े भी होते थे—(नि० गा० ५६६३; बृ० ३०७१)।

(३) 'भारवहा'—गठरी उठाकर चलने वाले मनुष्य, जो 'पोट्टलिया' कहे जाते थे। ये तीनों प्रकार के सार्थ अपने साथ विक्रय की वस्तुएँ ले जाते थे, और गन्तव्य स्थान में बेचते थे। और अपने साथ खाने-पीने की सामग्री भी रखते थे।

---

१. नि० गा० ५६५८ से; बृ० ३०३६ से।

(४) 'औदरिक' वह सार्थ होता था, जो अपने रुपये लेकर चलता था, और जहाँ आवश्यकता होती, पास के सुरक्षित धन से ही खा-पी लेता था। अथवा भोजन-सामग्री अपने साथ रखने वाले को भी औदरिक कहा गया है। ये व्यापारार्थ यात्रा करने वालों के सार्थ हैं।

(५) 'कप्पडिय' अर्थात् भिक्षुकों का सार्थ। यह भिक्षाचर्या करके अपनी आजीविका किया करता था।

सार्थ में मोदकादि पक्वान्न तथा घी, तेल, गुड, चावल, गेहूँ आदि नानाविध धान्य का संग्रह रखा जाता था। और विक्रय के लिये कुंकुम, कस्तूरी, तगर, पत्तचोय, हिंगु, शंखलोय आदि वस्तुएँ प्रचुर मात्रा में रहती थीं। (नि० गा० ५६६४; बृ० गा० ३०७२)। निशीथ में सार्थ से सम्बन्धित नाना प्रकार की रोचक सामग्री विस्तार से वर्णित है, जिसका संबंध सार्थ के साथ विहार-यात्रा करने वाले श्रमणों से है।

अनेक प्रकार की नौकाओं का विवरण भी निशीथ की अपनी एक विशेषता है। एक स्थान पर लिखा है कि तेयालग (आधुनिक वेरावल) पट्टण से बारवई (द्वारका) पर्यन्त समुद्र में नौकाएँ चलती थीं। ये नौकाएँ, अन्यत्र नदी आदि के जल में चलने वाली नौकाओं से भिन्न प्रकार की थीं। नदी आदि के जल में चलने वाली नौकाएँ तीन प्रकार की थीं :—

(१) ओयाण—जो अनुस्रोतगामिनी होती थीं।

(२) उज्जाण—जो प्रतिस्रोतगामिनी होती थीं।

(३) तिरिच्छसंतारिणी—जो एक किनारे से दूसरे किनारे को जाती थीं।

—(नि० गा० १८३)

जल-संतरण के लिये नौका के अतिरिक्त अन्य प्रकार के साधन भी थे; जैसे—कुम्भ = लकड़ी का चौखटा बनाकर उसके चारों कोनों में घड़े बाँध दिए जाते थे; दत्ति = दृतिक, वायु से भरी हुई मशकें; तुम्ब = मछली पकड़ने के जाल के समान जाल बनाकर उसमें कुछ तुम्बे भर दिए जाते थे और इस तुम्बों की गठरी पर संतरण किया जाता था; उडुप अथवा कोट्टिम्ब = जो लकड़ियों को बाँधकर बनाया जाता है; पण्णि = पण्णि नामक लताओं से बने हुए दो बड़े टोकरों को परस्पर बाँधकर उस पर बैठकर संतरण होता था—(नि० गा० १८५, १९१, २३७, ४२०६)। नौकामें छेद हो जाने पर उसे किस प्रकार बंद किया जाता था, इसका वर्णन भी महत्वपूर्ण है। इस प्रसंग में बताया गया है कि मुंज को या दर्भ को अथवा पीपल आदि वृक्ष की छाल को मिट्टी के साथ कूट कर जो पिंड बनाया जाता था, वह 'कुट्टविंद' कहा जाता था और उससे नौका का छेद बंद किया जाता था। अथवा वस्त्र के टुकड़ों के साथ मिट्टी को कूट कर जो पिंड बनाया जाता था, उसे 'चेलमट्टिया' कहते थे। वह भी नौका के छेद को बंद करने के काम में आता था (गा० ६०१७)। नौका-संबंधी अन्य जानकारी भी दी गई है (नि० गा० ६० १२-२३)

भगवान् महावीरने तो अनार्य देश में भी विहार किया था; किन्तु निशीथ सूत्र में विरूप, दस्यु, अनार्य, म्लेच्छ और प्रात्यंतिक देश में विहार का निषेध है (नि० सू० १६, २६)। उक्त सूत्र की व्याख्या में तत्कालीन समाज में प्रचलित आर्य-अनार्य-सम्बन्धी मान्यता की सूचना मिलती है।

शक-यवनादि विरूप हैं; क्योंकि वे आर्यों से वेश, भाषा और दृष्टि में भिन्न हैं। मगधादि साढ़े पच्चीस[1] देशों की सीमा के बाहर रहने वाले अनार्य आत्यंतिक हैं। दाँत से काटने वाले दस्यु हैं और हिंसादि अकार्य करने वाले अनार्य हैं (नि० गा० ५७२७)। और जो अव्यक्त तथा अस्पष्ट भाषा बोलते हैं, वे मिलक्खू—म्लेच्छ हैं (गा० ५७२८)। आंध्र और द्रविड देश को स्पष्ट रूप से अनार्य कहा गया है। तथा शकों और यवनों के देश को भी अनार्य देश कहा है (५७३१)।

पूर्व में मगध, दक्षिण में कोसंबी, पश्चिम में थूणाविसय और उत्तर में कुणालाविसय—यह आर्य देश की मर्यादा थी। उससे बाहर अनार्य देश माना जाता था (गा० ५७३३)।

निम्नस्तर के लोग आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त गरीब मालूम होते हैं; परिणामस्वरूप उन्हें धनिकों की नौकरी ही नहीं, कभी-कभी दासता भी स्वीकार करनी पड़ती थी। शिल्पादि सीखने के लिये गुरु को द्रव्य दिया जाता था। जो ऐसा करने में असमर्थ होते, वे शिक्षण-काल पर्यन्त, अथवा उससे अधिक काल तक के लिये भी गुरु से अपने को अवबद्ध कर लेते थे (ओबद्ध) (नि० गा० ३७१२)। अर्थात् उतने समय तक वे गुरु का ही कार्य कर सकते थे, अन्य का नहीं। गुरु की कमाई में से ओबद्ध (अवबद्ध) को कुछ भी नहीं मिलता था। किन्तु भृतक=नौकर को अपनी नौकरी के लिये भृति-वेतन मिलता था (नि० गा० ३७१४ और ३७१७ की चूर्णि)।

भृतक-नौकर चार प्रकार के होते थे :

(१) दिवसभयग—दिवस भृतक—प्रतिदिन की मजदूरी पर काम करने वाले।

(२) यात्राभृतक—यात्रापर्यंत साथ देकर नियत द्रव्य पाने वाले। ये यात्रा में केवल साथ देते थे, या काम भी करते थे। और इनकी भृति तदनुसार नियत होती थी, जो यात्रा समाप्त होने पर ही मिलती थी।

(३) कव्वालभृतक—ये जमीन खोदने का ठेका लेते थे। इन्हें उड्ड (गुजराती-ओड[2]) कहा जाता था।

(४) उच्चत्तभयग—कोई निश्चित कार्य-विशेष नहीं, किन्तु नियत समय तक, मालिक, जो भी काम बताता, वह सब करना होता था। गुजराती में इसे 'उचक' काम करने वाला कहा जाता है (नि० गा० ३७१८-२०)।

गायों की रक्षा के निमित्त गोपाल को दूध में से चतुर्थांश, या जितना भी आपस में निश्चत=तय हो जाता, मिलता था। यह प्रतिदिन भी ले लिया जाता था, या कई दिनों का मिलाकर एक साथ एक ही दिन भी (नि० गा० ४५०१-२ चू०)।

दासों के भी कई भेद होते थे। जो गर्भ से ही दास बना लिया जाता था, वह ओगालित दास कहलाता था। खरीद कर बनाये जाने वाले दास को क्रीत दास कहते थे। ऋण

---

१. साढ़े पच्चीस देश की गणना के लिये, देखो-बृ० गा० ३२६३ की टीका।

२. सौराष्ट्र में आज भी इस नाम की एक जाति है, जो भूमि-खनन के कार्य में कुशल है।

से मुक्त न हो सकने पर जिसे दास कर्म करना पड़ता था, उसे 'अणए' कहते थे। दुर्भिक्ष के कारण भी लोग दासकर्म करने को तैयार हो जाते थे। राजा का अपराध करने पर दंडस्वरूप दास भी बनाये जाते थे (नि० गा० ३६७६)। कोसल के एक गीतार्थ आचार्य की बहन ने किसी से उद्धीना (उधार) तेल लिया था, किन्तु गरीबी के कारण, वह समय पर न लौटा सकी, परिणामस्वरूप बेचारी को तैलदाता की दासता स्वीकार करनी पड़ी। अन्ततः गीतार्थ आचार्य ने कुशलतापूर्वक मालिक से उक्त दासी की दीक्षा के लिये अनुज्ञा प्राप्त की और इस प्रकार वह दासता से मुक्त हो सकी। यह रोमांचक कथा भाष्य में दी गई है (नि० गा० ४४८७—८६)।

श्रमण-ब्राह्मण :

श्रमण और ब्राह्मण का परस्पर वैर प्राचीनकाल से ही चला आता था[1]। वह निशीथ की टीकोपटीकाओं के काल में भी विद्यमान था (नि० गा० १०८७ चू०) अहिंसा के अपवादों की चर्चा करते समय, श्रमण द्वारा, ब्राह्मणों की राजसभा में की गई हिंसा का उल्लेख किया जा चुका है। ब्राह्मणों के लिये चूर्णि में प्रायः सर्वत्र 'धिज्जातीय' (नि० गा० १६, ३२२, ४८७, ४४४१) शब्द का प्रयोग किया गया है। जहाँ ब्राह्मणों का प्रभुत्व हो, वहाँ श्रमण अपवादस्वरूप यह झूठ भी बोलते थे कि हम कमंडल (कमढग) में भोजन करते हैं—ऐसी अनुज्ञा है (नि० गा० ३२२)। श्रमणों में भी पारस्परिक सद्भाव नहीं था (नि० सू० २.४०)। बौद्धभिक्षुओं को दान देने से लाभ नहीं होता है, ऐसी मान्यता थी। किन्तु ऐसा कहने से यदि कहीं यह भय होता कि बौद्ध लोग त्रास देंगे, तो अपवाद से यह भी कह दिया जाता था कि दिया हुआ दान व्यर्थ नहीं जाता है (नि० गा० ३२३)।

आज के श्वेताम्बर, संभवतः, उन दिनों 'सेयपड' या 'सेयभिक्खु' (नि० गा० २५७३ चू०) के नाम से प्रसिद्ध रहे होंगे (नि० गा० २१४, १४७३ चू०)। श्रमणवर्ग के अन्दर पासत्था अर्थात् शिथिलाचारी साधुओं का भी वर्ग-विशेष था। इसके अतिरिक्त सारूवी और सिद्धपुत्र—सिद्धपुत्रियों के वर्ग भी थे। साधुओं की तरह वस्त्र और दंड धारण करने वाले, किन्तु कच्छ नहीं बाँधने वाले सारूवी होते थे। ये लोग भार्या नहीं रखते थे (नि० गा० ४५८७; ५५४८, ६२६६)। इनमें चारित्र नहीं होता था, मात्र साधुवेश था (नि० गा० ४६०२ चू०)। सिद्धपुत्र गृहस्थ होते थे और वे दो प्रकार के थे—सभार्यक और अभार्यक[2]। ये सिद्धपुत्र नियमतः शुक्लांबरधर होते थे। उस्तरे से मुण्डन कराते थे, कुछ शिखा रखते, और कुछ नहीं रखते थे[3]। ये शुक्लांबरधर सिद्धपुत्र, संभवतः 'सेयवड' वर्ग से पतित, या उससे निम्न श्रेणी के लोग थे, परन्तु उनकी बाह्यवेशभूषा प्रायः साधु की तरह होती थी—(नि०गा०५८६)। आज जो श्वेताम्बरों में साधु और यति वर्ग है, संभवतः ये दोनों, उक्त वर्ग द्वय के पुरोगामी रहे हों तो आश्चर्य नहीं। सिद्धपुत्रों के वर्ग से निम्न श्रेणी

---

१. डंडकारण्य की उत्पत्ति के मूल में श्रमण-ब्राह्मण का पारस्परिक वैर ही कारण है—गा० ५७४०-३।

२. अभार्यक को मुंड भी कहते थे—५५४८ चू०।

३. नि० गा० ३४६ चू०। गा० ५३८ चू०। गा० ५५४८ चू०। गा० ६२६६। बृ० गा० २६०३। गा० ४५८७ में शिखा का विकल्प नहीं है।

में 'सावग' वर्ग था। ये 'सावग' = श्रावक दो प्रकार के थे—अणुव्रती और अनणुव्रती—जिन्होंने अणुव्रतों का स्वीकार नहीं किया है (नि० गा० ३४६ चू०)। अणुव्रती को 'देशसावग' और अनणुव्रती को 'दंसणसावग' कहा जाता था (नि० गा० १४२ चू०)।

मुण्डित मस्तक का दर्शन अमंगल है—ऐसी भावना भी (नि० गा० २००५ चूर्णि) सर्वसाधारण में घर कर गई थी। इसे भी श्रमण-द्वेष का ही कुफल समझना चाहिये।

श्रमण परम्परा में निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गेरु, और आजीवकों का समावेश होता था (नि० गा० ४४२०; २०२० चू०)। निशीथ भाष्य और चूर्णि में अनेक मतों का उल्लेख है, जो उस युग में प्रचलित थे और जिनके साथ प्रायः जैन भिक्षुओं की टक्कर होती थी। इनमें बौद्ध, आजीवक और ब्राह्मण परिव्राजक मुख्य थे। बौद्धों के नाम विविध रूप से मिलते हैं—भिक्खुग, रत्तपड, तच्चणिय, सक्क आदि। ब्राह्मण परिव्राजकों में उलूक, कपिल, चरक, भागवत तापस, पंचग्गि-तावस, पंचगव्वासणिया, सुईवादी, दिसापोक्खिय, गोव्वया, ससरक्ख आदि मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त कापालिक, वैतुलिक, तडिय कप्पडिया आदि का भी उल्लेख है – देखो, नि० गा० १, २४, २६, ३२३, ३६७, ४६८, १४०४, १४४०, १४७३, १४७५, २३४३, ३३१०, ३३५४, ३३५८, ३७००, ४०२३, ४११२ चूर्णि के साथ। परिव्राजकों के उपकरणों का भी उल्लेख है—मत्त, दगवारग, गडुअग्र, आयमणी, लोट्टिया, उल्लंकअ, वारअ, चडुयं, कव्वय—गा० ४११३।

यक्षपूजा (गा० ३४८६), रुद्रघर (६३८२) तथा भल्लीतीर्थ (गा० २३४३) का भी उल्लेख है। भृगु कच्छ के एक साधु ने दक्षिणापथ में जाकर, जब एक भागवत के समक्ष, भल्ली तीर्थ के सम्बन्ध में यह कथा कही कि वासुदेव को किस प्रकार भाला लगा और वे मर गये; अनन्तर उनकी स्मृति में भल्लीतीर्थ की रचना हुई, तो भागवत सहसा रुष्ट हो गया और श्रमण को मारने के लिए तैयार हो गया। अन्ततः वह तभी शांत हुआ और क्षमा याचना की, जब स्वयं भल्लीतीर्थ देख आया।

जैनों ने उक्त मतांतरों को लौकिक धर्म कहा है। मूलतः वे अपने मत को ही लोकोत्तर धर्म मानते थे। महाभारत, रामायण आदि लौकिक शास्त्रों की असंगत बातों का मजाक भी उड़ाया है। इस सम्बन्ध में चूर्णिकार ने पाँच धूर्तों की एक रोचक कथा का उल्लेख किया है (नि० गा० २९४-६)। इतना ही नहीं, विरोधी मत को अनार्य भी कह दिया है (५७३२)

जैन धर्म में भी पारस्परिक मतभेदों के कारण जो अनेक सम्प्रदाय-भेद उत्पन्न हुए, उन्हें 'निह्नह' कहा गया है, और उनका क्रमशः इतिहास भी दिया हुआ है (गा० ५५९६-५६२६)।

'पासंड'[1] शब्द निशीथ भाष्य तक धार्मिक सम्प्रदाय के अर्थ में ही प्रचलित था। इसमें जैन और जैनेतर सभी मतों का समावेश होता था।

निशीथ में कई जैनाचार्यों के विषय में भी ज्ञातव्य सामग्री मिलती है। आर्यमंगु और समुद्र के दृष्टान्त आहार-विषयक गृद्धि और विरक्ति के लिये दिये गये हैं (गा० १११६)। स्थूलभद्र के समय तक सभी जैन श्रमणों का आहार-विहार साथ था; अर्थात् सभी श्रमण परस्पर सांभोगिक

१. नि० गा० ६२६२

थे। स्थूलभद्र के दो शिष्य थे—आर्यमहागिरि और आर्य सुहस्ती। आर्यमहागिरि ज्येष्ठ थे; किन्तु स्थूलभद्र ने आर्य सुहस्ती को पट्टधर बनाया। फिर भी ये दोनों प्रीतिवश साथ ही विचरण करते रहे। सम्प्रति राजा ने, अपने पूर्वभव के गुरु जानकर भक्तिवश सुहस्ती के लिये आहारादि का प्रबंध किया। इस प्रकार कुछ दिन तक सुहस्ती और उनके शिष्य राजपिंड लेते रहे। आर्य महागिरि ने उन्हें सचेत भी किया, किन्तु सुहस्ती न माने, फलतः उन्होंने सुहस्ती के साथ आहार-विहार करना छोड़ दिया, अर्थात् वे असांभोगिक बना दिये गए। तत्पश्चात् सुहस्ती ने जब मिथ्या दुष्कृत दिया, तभी दोनों का पूर्ववत् व्यवहार शुरू हो सका। तब से ही श्रमणों में सांभोगिक और विसंभोगिक, ऐसे दो वर्ग होने लगे (नि० गा० २१५३-२१५४ की चूर्णि)। यही भेद आगे चलकर श्वेताम्बर और दिगम्बर रूप से दृढ़ हुआ, ऐसा विद्वानों का अभिमत है।

आर्य रक्षित ने श्रमणों को, उपधि में मात्रक (पात्र) की अनुज्ञा दी। इसको लेकर भी संघ में काफी विवाद उठ खड़ा हुआ होगा; ऐसा निशीथ भाष्य को देखने पर लगता है। कुछ तो यहाँ तक कहने लगे थे कि यह तो स्पष्ट ही तीर्थंकर की आज्ञा का भंग है। किन्तु निशीथ भाष्य, जो स्थविर कल्प का अनुसरण करने वाला है, ऐसा कहने वालों को ही प्रायश्चित का भागी बताता है। आर्यरक्षित ने देशकाल को देखते हुए जो किया, उचित ही किया। इसमें तीर्थंकर की आज्ञाभंग जैसी कोई बात नहीं है। जिस पात्र में खाना, उसी का शौच में भी उपयोग करना; यह लोक-विरुद्ध था। अतएव गच्छवासियों के लिये लोकाचार की दृष्टि से दो पृथक् पात्र रखने आवश्यक हो गये थे—ऐसा प्रतीत होता है; और उसी आवश्यकता की पूर्ति आचार्य आर्यरक्षित ने की (नि० गा० ४५२८ से)।

आचार्य :

लाटाचार्य (११५०), आर्यखपुट (२५८७), विष्णु (२५८७), पादलिप्त (४४६०), चंद्ररुद्र (६६१३) गोविंदवाचक (२७६६,३४२७, ३५५६) आदि का उल्लेख भी निशीथ-भाष्य-चूर्णि में मिलता है।

पुस्तक :

पाँच प्रकार के पोत्थय—पुस्तकों का उल्लेख है। वे ये हैं—गंडी, कच्छभी, मुट्ठी, संपुड तथा छिवाडी[1]। इनका विशेष परिचय मुनिराज श्री पुण्यविजयजी ने अपने 'भारतीय जैन श्रमण संस्कृति और लेखन कला' नामक निबन्ध में (पृ० २२-२४) दिया है।

उपर्युक्त पाँचों ही प्रकार के पुस्तकों का रखना, श्रमणों के लिए, निषिद्ध था; क्योंकि उनके भीतर जीवों के प्रवेश की संभावना होने से प्राणातिपात की संभावना थी (नि० गा० ४००२) किन्तु जब यह देखा गया कि ऐसा करने में श्रुत का ही ह्रास होने लगा है, तब यह अपवाद करना पड़ा कि कालिक श्रुत = अंग ग्रन्थ[2] तथा निर्युक्ति के संग्रह की दृष्टि से पांचों प्रकार के पुस्तक रखे जा सकते हैं—(नि० गा० ४०२०)।

---

१. नि० गा० १४१६; ४००० चू० बृ० गा० ३८२२ टी०; ४०६६।

२. 'कालियसुयं' आयारादि एक्कारस अंगा—नि० गा० ६१८६ चू०।

कुछ शब्द :

भाषाशास्त्रियों के लिये कुछ विशिष्ट शब्दों के नमूने नीचे दिये जाते हैं, जो उनको प्रस्तुत ग्रन्थ के विशेष अध्ययन की ओर प्रेरित करेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

वच्चगिह = पाखाना।

छाणहारिग = गोवर एकत्र करने वाला। 'छाण' शब्द आज भी गुजरात में इसी रूप में प्रचलित है।

छुरघरयं = छुरे का घर, हजाम के उस्तरे का घर।

खडखडेंत = गु० 'खडखडाट'।

चेल्लग = चेलो (गु०), शिष्य।

पुलिया = पूली (गु०) तृण की गठरी।

चुक्कति = चूक जाता है। गुजराती—चूक = भूल।

उड्डाह = बदनामी।

डाली = शाखा।

लोट्टो = लोटो (गु०), लोटा।

वाउल्लग = पुतला।

रेल्लिया = पानी की बाढ़ का आ जाना; (गु० रेल)

मक्कोडग = (गु० मकोडा) बड़ी क़ाली चींटी।

जूआ = जू ं (गु०);

उद्देहिया = (गु० उधई) दीमक।

कणिक्का = (गु० कणिक) आटे का पिंड।

लंच = (गु० लाँच) घूस।

उघेउं = (गु० उंघ) निद्रा लेना।

मप्पक = (गु० माप) नाप।

कुहाड = (गु० कुहाडो) फरसा।

खड्डा = गड्डा (गु० खाडो) इत्यादि।

ये शब्द प्रथम भाग में आये हैं, और इन पर से यह सिद्ध होता है कि चूर्णिकार, सौराष्ट्र-गुजराती भाषा से परिचित थे।

इस प्रकार, प्रस्तुत में, दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। इससे विद्वानों का ध्यान, प्रस्तुत ग्रन्थ की बहुमूल्य सामग्री की ओर गया, तो मैं अपना श्रम सफल समझूँगा।

आभार :

प्रस्तुत निवन्ध की समाप्ति पर, मैं, संपादक मुनिद्वय तथा प्रकाशकों का आभार मानना भी अपना कर्तव्य समझता हूँ; जिन्होंने प्रस्तुत परिचय के लेखन का अवसर देकर, मुझे निशीथ के स्वाध्याय का सु-अवसर प्रदान किया है। साथ ही, उन्हें लंबे काल तक प्रस्तुत परिचय की प्रतीक्षा करनी पड़ी, एतदर्थ क्षमा प्रार्थी भी हूँ।

वाराणसी—५
ता० १३-३-५९

—दलसुख मालवणिया